पुरुषार्थचतुष्टय
(ब्रह्मपुराण के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. चन्द्रकान्ता राय *

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" इस आर्ष अनुशासन के अनुसार वेद के तत्त्वार्थ के समुपबृंहण में पुराणों और इतिहास–*रामायण* तथा *महाभारत* की आनुषङ्गिकता सिद्ध होती है। भारतीय पारम्परिक सिद्धान्त के अनुसार वेद का अपौरुषेयत्व शब्द और अर्थ दोनों में तथा पुराणों का अपौरुषेयत्व अर्थ में है। इसलिए धर्म के विषय में इनका प्रामाण्य सिद्ध होता है। पुराणों की साहित्य परम्परा अति प्राचीन है। *अथर्ववेद, तैत्तिरीय आरण्यक, छान्दोग्य उपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्* इत्यादि में पुराण शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। मानवमात्र के योगक्षेम तथा पुरुषार्थ–चतुष्टय रूप उपेय के साधन के लिए वैदिकवाङ्मय के अनुक्रम में पुराण विधि–निषेधादि की सम्यक् अवतारणा करते हैं। वेद तथा पुराण इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार के लिए दृष्टि प्रदान करते हैं। मानव जीवन का लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। अपने स्थूल भौतिक रूप में यह इष्ट भोग्य विषयों के संसर्ग में अपना अभिप्राय रखता है और तात्कालिक प्रियता की अनुभूति करता हुआ 'प्रेयस्' संज्ञा से अभिहित होता है। परम अर्थ में सुख अविचल आनन्द की सम्प्राप्ति है जिसके लिए परमात्मस्वरूप का बोध आवश्यक है। यह सुख ही जीवन का परम लक्ष्य है जो निःश्रेयस अथवा मुक्ति संज्ञा से वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में नाना प्रकार से व्याख्यायित हुआ है।

परमात्मा का स्वभाव है क्रीड़ा करना। यह क्रीड़ा बन्धनमोक्षस्वरूप है। तत्त्वतः एक होकर भी वह विधिक्रिया के आयत्त हो आत्मा से आत्मा का सृजन करता है। आत्मा से प्रत्यगात्मा को करोड़ों में बनाकर साक्षिभाव से उसके सामर्थ्य की लीला का दर्शन करता है। अव्यक्त पुर में शयन करने से वह 'पुरुष' नाम से उपलक्षित होता है तथा व्यष्टि रूप में नाना शरीरों में अन्तःप्रविष्ट हो इस अभिधान से सम्बोधित होता है–

महापुरुषशब्दं हि बिभर्त्येकः सनातनः।
स तु विधिक्रियायत्तः सृजत्यात्मानमात्मना।।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा।
कोटिशश्च करोत्येष प्रत्यगात्मानमात्मना।।[1]

उस 'पुरुष' का अर्थ अर्थात् शरीरबद्ध जीवात्मा का उद्देश्य 'पुरुषार्थ' पद से अभिव्यञ्जित होता है–पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः पुरुषाणामर्थो वा पुरुषार्थः। धर्म और अध्यात्म चेतना की यज्ञिय भूमि भारतवर्ष को पवित्रात्मा मनीषियों ने कर्मभूमि कहा है तथा इस भूमि पर पुरुष के वैयक्तिक एवं समष्टिगत लक्ष्य की सिद्धि के लिए, आधिभौतिक–आधिदैविक–आध्यात्मिक साधना की समीक्षा एवं परीक्षा के लिए पुरुषार्थचतुष्टय की धारणा को दृढ़ता से प्रतिष्ठापित किया है।[2] धर्म–अर्थ–काम–मोक्ष के चतुष्टय में मनुष्य की सभी प्रकार की चिकीर्षा और कर्मेच्छा का अन्तर्भाव हो जाता है।

सृष्टि–प्रक्रिया के वर्णन के पश्चात् सूर्यवंश तथा सोमवंश के अन्वयक्रम के साथ प्रसिद्ध पौराणिक आख्यानों और तीर्थों के माहात्म्य प्रकाशन के अन्तर्गत पुरुषार्थ विशेषतः धर्म तत्त्व का विस्तृत आलेखन इस पुराण के लोकोपकारी उदात्त संकल्प को उपस्थापित करता है।

पुरुषार्थचतुष्टय में धर्म का प्रथमतः उल्लेख इस वर्ग में धर्म की प्रमुखता अथवा उसके आधारवैशिष्ट्य

* रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, आर्य महिला डिग्री कालेज, वाराणसी

को द्योतित करता है। अर्थ और काम सामान्यतः भौतिक अपेक्षाओं के द्योतक प्रतीत होते हैं किन्तु भारतवर्ष के तपःपूत ऋषिवृन्द को यह अभिप्राय कथमपि अभिमत नहीं है। *महाभारत* में महर्षि व्यास ने अधर्मविवर्जित धर्म, अर्थ और काम को मनुष्य का प्राप्तव्य कहा है–

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम्।
एतत्त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ।।[3]

इसी प्रकार *विष्णुधर्मसूत्र* में धर्मविरुद्ध अर्थ और काम के परित्याग की बात कही गयी है–

धर्मविरुद्धौ चाऽर्थकामौ (परिहरेत्)।[4]

धर्मशास्त्रकार मनु के द्वारा लौकिक दृष्टि से धर्म, अर्थ और काम को महत्त्वपूर्ण निर्दिष्ट किया गया है–

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।।[5]

परन्तु आध्यात्मिक प्रयोजन के साधन में धर्म, अर्थ और काम की मीमांसा उपेक्षणीय नहीं हो सकती। वस्तुतः धर्मानुरूप अर्थ और काम भी धर्म का साधन होने से धर्मरूप हो जाते हैं।

आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति–इन चतुर्विध विद्याओं का विद्यात्व धर्म और अर्थ की सिद्धि में ही है, इस अभिमत को कौटिल्य ने प्रतिपादित किया है।[6] निःसन्देह उनकी दृष्टि में अर्थ प्रधान है क्योंकि वह धर्म और काम का मूल है।[7] किन्तु *ब्रह्मपुराण* की दृष्टि में धर्म का साधन अर्थ भी धर्म ही है।[8] धर्मबुद्धि से अर्थ का उपार्जन, धर्मनिष्ठापूर्वक उसका उपभोग और अर्थ की अनित्यता के बोध के साथ उसके प्रति अनासक्तिभाव[9] पुरुषार्थचतुष्टय के साधन में क्रमिक उत्कर्ष का सोपान प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार चरम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि में भी धर्मरूप अर्थ और काम तथा स्वतः धर्म की कारणता स्पष्ट होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में सत्त्वसंशुद्धि को कर्मयोग का आधार बतलाते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसे दिव्य ऐश्वर्यसम्पन्न पुरुष का लक्षण बताया है[10] तथा परम पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए इसे उत्कृष्ट साधन कहा है।[11] धर्म, अर्थ और काम–इस त्रितय की सिद्धि को अभ्युदय तथा मोक्ष की सिद्धि को निःश्रेयस पद के द्वारा अभिव्यञ्जित किया जाता है। यतः धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस–उभय अर्थ का साधक है और इन दो पदों के अन्तर्गत मनुष्य के सभी पुरुषार्थ समाहित हो जाते हैं, अतः पुरुषार्थचतुष्टय के मूल में धर्म की सुदृढ़ प्रतिष्ठा प्रमाणित होती है–

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।[12]

धर्म

धृञ् धारणे धातु से मनिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'धर्म' शब्द धरति लोकान् ध्रियते वा जनैरिति–अमरकोष[13] की इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त लोक के धारणभाव अथवा लोक द्वारा अपनी धार्यता को व्यक्त करता है। *अथर्ववेद* द्वादश काण्ड के प्रथम मन्त्र में पृथिवी के धारक तत्त्वों का इस प्रकार आशंसन किया गया है–"सत्य, सर्वव्यापिनी प्रकृति–व्यवस्था, कठोर तप, शास्त्रानुकूल आचार–दीक्षा, ब्रह्म अर्थात् तत्त्वज्ञान और यज्ञ अर्थात् धनादि का त्याग–ये तत्त्व पृथिवी को धारण करते हैं–"

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरु लोकं पृथिवी नः कृणोतु।।[14]

तैत्तिरीय आरण्यक में मनुष्य को प्रबोधित करते हुए उपदेश दिया गया है–

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्
तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति।।[15]

इस प्रसंग में महाभारत में प्रकाशित धर्म का अधोलिखित लक्षण ध्यातव्य है–

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।।[16]

वैदिक वाङ्मय के इस दर्शन का पौराणिक साहित्य तथा धर्मशास्त्रीय परम्परा ने रोचक विधि से विस्तारपूर्वक उपस्थापन किया है। पुराणों और धर्मशास्त्रों में उपदिष्ट वर्णाश्रम के अनुकूल स्वकर्म का आचरण धर्म की अनिवार्य व्यवस्था है। यह धर्म, अर्थ और काम की दृष्टि से प्रवृत्तिपरक तथा मोक्ष की दृष्टि से निवृत्तिपरक स्वरूप वाला हो जाता है। प्रवृत्तिलक्षण धर्म का फल ऐहिक–आमुष्मिक उत्कर्षरूप अभ्युदय है तथा निवृत्तिलक्षण धर्म का फल जन्म मृत्यु से निवृत्तिरूप निःश्रेयस है। मनुस्मृति में उल्लेख प्राप्त होता है–

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्।।
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते।।[17]

प्रवृत्तिपरक सामान्य धर्म यज्ञ–दान–तप आदि हैं जो निवृत्तिपरक विशेष धर्म धृति–क्षमा–दम–सत्य आदि में पर्यवसान को प्राप्त करते हैं। इस सामान्य धर्म की सार्थकता विशेष धर्म में पर्यवसित होने में ही सिद्ध होती है। पुनः *मनुस्मृति* से उद्धृत है–

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।[18]

समत्व बुद्धिसम्पन्न सत्पुरुष जिस आचार का स्वयं सेवन करते हुए हृदय से उसका अनुमोदन करते हैं, वह धर्म है तथा जिस प्रकार के आचरण का परिवर्जन करते हैं वह अधर्म है। धर्मशास्त्रकार मनु के शब्दों में–

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।।[19]

आपस्तम्ब धर्मसूत्र की परिभाषा है–

यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मो यं गर्हन्ते सोऽधर्मः।[20]

पुराण, धर्मशास्त्रादि शास्त्रानुकूल आचरण पर सर्वाधिक बल देते हैं।[21] *मनुस्मृति* में धर्म के विषय में चतुर्विध प्रमाण देते हुए[22] इसका दशविध लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[23]

महाभारतकार ने शान्तिपर्व में धर्म की आठ प्रकार की आचारविधि का कथन किया है–

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः।।[24]

सत्य अर्थात् धर्म की नौका पुण्यात्मा को दुःखार्णव से पार करती है। इसलिए वैदिक वाङ्मय में सत्य के आश्रयण हेतु आह्वान किया गया है–

सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्।[25]

तथा

ऋतस्य पथा प्रेत।।[26]

ब्रह्मपुराण में पुरुषार्थों में धर्मतत्त्व का विशद एवं व्यापक रूप से निरूपण प्राप्त होता है। सृष्टि की स्थिति के लिए संचालित प्रकृति की व्यवस्था में प्रत्येक प्राकृतिक दिव्य शक्ति की क्रियाशीलता नियमित क्रम में दृष्टिगोचर होती है। ब्रह्मपुराण में भी सृष्टि से लेकर प्रलयपर्यन्त विश्वव्यवस्था को नियन्त्रित करने वाली प्रकृति की शक्तियों की सविधि सपर्या का निर्देश प्राप्त होता है। अनेक तीर्थों के वर्णन-प्रसंग में गंगा, गोमती, पुरुषोत्तम क्षेत्र, वटवृक्ष, कोणार्क इत्यादि का माहात्म्यवर्णन पद-पद पर धर्मकृत्य के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। वर्ष के आठ मासों में पृथिवी से जलरूप रस का कर्षण करते हुए सूर्य वृष्टि के लिए उपादान का संग्रह करते हैं। वह जल पर्जन्य के अभिमानित्व में संचित होकर वर्षा के द्वारा पृथिवी को सिञ्चित करता है जिससे पृथिवी उर्वरा होकर अन्नसम्पदा धारण करती है। उस अन्न से जगत् का भरण-पोषण होता है। मेघों से निःसृत वर्षा का जल अमृतरूप होता है जो सभी प्राणियों और ओषधियों को पुष्ट करता है। इसलिए शास्त्रचक्षुष मनुष्य देवताओं की पुष्टि के लिए प्रतिदिन यज्ञ करते हैं। इस प्रकार यज्ञ, वेद, ब्राह्मणादि वर्ण, देवसमूह, पशु-पक्षी, स्थावर जंगमरूप यह सम्पूर्ण जगत् वृष्टि के द्वारा धारण किया जाता है और वृष्टि सूर्य के आधार से निष्पन्न होती है। ऋत-व्यवस्था का यह चक्र इस पुराण में विस्तार के साथ वर्णित है।[27]

ऋत अथवा यज्ञरूप धर्म की सिद्धि के लिए ही स्वयंभू ब्रह्मा ने चार वेदों का प्रणयन किया-

ऋचो यजूंषि सामानि निर्ममे यज्ञसिद्धये।।[28] ब्रह्मपुराण 1/49

ब्रह्मपुराण के चतुर्थ अध्याय में सविधि यज्ञकर्म तथा प्रजापालन रूप धर्म से विच्युत राजा वेण और उसके धर्मात्मा पुत्र पृथु की उत्पत्ति, उसकी धर्मनिष्ठा इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। वैवस्वत मन्वन्तर में अत्रिवंश में उत्पन्न धर्मसंरक्षक अंग नामक प्रजापति को मृत्युपुत्री सुनीथा से पुत्र प्राप्त हुआ जिसका नाम वेण रखा गया। अपने मातामह मृत्यु के दोष से युक्त होने के कारण वह स्वधर्म से विचलित हो काम और लोभ में प्रवृत्त हो गया। उसके दुष्प्रभाव से प्रजा वेदाध्ययन और वैदिक अनुष्ठानों, मन्त्र, जप इत्यादि से वञ्चित हो गयी। देवताओं ने यज्ञहुत सोम की आहुति लेना बन्द कर दिया। यज्ञों में अनुचित हव्यभाग लेने वाले उस वेण को मरीचि आदि ऋषियों ने सनातन धर्म का तत्त्वार्थ समझाते हुए अधर्माचरण से रोकने का प्रयत्न किया तथा प्रजापालन के लिए पूर्व में उसके द्वारा की गयी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाया। परन्तु अज्ञान, अहंकार और दुर्बुद्धि से अवलिप्त उस राजा ने उनका अपमान करते हुए कहा-मेरे अतिरिक्त धर्म का निर्माता दूसरा कौन है? मेरे लिए किसका उपदेश श्रवणीय है? शास्त्रज्ञान, पराक्रम, तप और सत्य आचरण में मेरे समान पृथिवी पर कौन है? मैं ही सभी प्राणियों और धर्मों का उद्गमस्थल हूँ इत्यादि।[29] क्रुद्ध होकर ऋषियों ने उस वेण की दाहिनी भुजा का अरणि की भाँति मन्थन किया जिससे अग्नितुल्य तेजस्वी पुत्र पृथु उत्पन्न हुआ।[30] अधर्म तात्कालिक रूप से सुखद प्रतीत हो सकता है किन्तु परिणाम में वह अधोगति का कारण बनता है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म की प्रतिष्ठा और उस धर्म से लोकरक्षा के उदात्त संकल्प को लक्ष्य में रखकर ऋषिगण अपने तपोबल और योग के आवेश से धर्मच्युत राजा वेण के आत्मज के रूप में धर्मात्मा पृथु की उत्पत्ति को सम्भव बना सके। उस सत्यव्रत के जन्म लेने से पुं नामक नरक से वेण की रक्षा हो सकी।[31] धर्मज्ञों ने महान् तेजस्वी पृथु का विधिपूर्वक राज्याभिषेक किया। प्रजापालन के कर्त्तव्य को अपना परम धर्म समझते हुए राजा पृथु ने पृथिवी को अपनी प्रजा के लिए अन्न आदि भरण-पोषण सामग्री प्रदान करने हेतु दृढ़तापूर्वक निर्दिष्ट तथा नियन्त्रित किया-

सा त्वं शासनमास्थाय मम धर्म्मभृतां वरे।
सञ्जीवय प्रजाः सर्वाः समर्था ह्यसि धारणे।।[32]

पृथु ने राजधर्म का निर्वाह करते हुए अपने पराक्रम से हजारों पर्वतों को उखाड़कर भूमि को समतल बना दिया जिस पर निवास करते हुए लोग कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि उद्योगों से अर्थोपार्जन कर सुख से रहने लगे।[33] राजा पृथु के दुहितृभाव को प्राप्त धात्री वसुन्धरा पृथिवी नाम से विख्यात हुई तथा प्रतापी, धर्मानुरागी राजा पृथु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र सहित सभी प्राणियों के लिए प्रणम्य बन गये।[34]

ब्रह्मपुराण के त्रयोदश अध्याय में यदुवंश में उत्पन्न कार्तवीर्य अर्जुन के अपरिमित पराक्रम को 'सहस्रबाहु' तथा 'सप्तद्वीपेश्वर' इत्यादि विशेषणों से व्यक्त किया गया है जिसने सूर्य के समान तेजस्वी रथ से अकेले ही सम्पूर्ण पृथिवी को जीत लिया।[35] दस हजार वर्ष तक कठोर तप करके अत्रि के पुत्र दत्त को प्रसन्न कर उसने चार यशोवर्धक वर प्राप्त कर लिए। वरदान के फलस्वरूप युद्धक्षेत्र में उसकी सहस्र भुजाएँ हो जाती थीं। पर्वत, समुद्र, नगरों सहित सप्तद्वीपा पृथिवी को जीतकर उसने सात सौ यज्ञों का अनुष्ठान किया।[36] उन सभी यज्ञों में ब्राह्मणों को ससम्मान दक्षिणा दी जाती थी, स्वर्णनिर्मित यज्ञयूप तथा वेदि वाले उन अनुष्ठानों में अलंकृत विमानों से आगमन कर देवता, गन्धर्व आदि यज्ञ की शोभा बढ़ाते थे। यज्ञ, दान, तपस्या और पराक्रम में कार्तवीर्य अर्जुन की तरह यश पाने में कोई राजा समर्थ नहीं हो सका।[37]

उस राजा ने अधर्म में प्रवृत्ति होने पर सज्जनों द्वारा आत्मनियमन तथा पराक्रमपूर्वक विजयी होकर धर्माचरण के साथ प्रजा का अनुरञ्जन करने के लिए भी वर प्राप्त किया था। तदनुसार भलीभाँति प्रजा के प्रति स्वधर्म का निर्वाह करता हुआ वह अक्षय धनकोष से सम्पन्न चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। इस अद्भुत प्रताप और विस्मयजनक ऐश्वर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह धनुर्धर योगी रथारूढ़ होकर सप्तद्वीपों में विचरण करता हुआ मानववर्ग द्वारा दृष्टिगोचर होता था।[38] उसमें प्रकृति की व्यवस्था को अपनी ऊर्जा से नियन्त्रित करने की क्षमता थी। योगबल से मेघरूप होकर वह धरती पर जल की वर्षा करता था।[39] अपनी सहस्र भुजाओं से मन्दराचल का मन्थन कर उसने उसे क्षुब्ध कर दिया, नर्मदा की शान्त ऊर्मियों को अपनी क्रीड़ा से वेगवती बना दिया, पातालवासी दुर्दम राक्षसों को भयभीत कर दिया तथा लंकापति रावण को अपने बाणों से वश में कर उसे महिष्मती नगरी में बाँध दिया।[40] पुलस्त्य मुनि के याचना करने पर बाद में उसने रावण को मुक्त किया।[41] अत्रिपुत्र दत्त से चतुर्थ वरदान के रूप में उसने अपने से अधिक शक्तिशाली के द्वारा मारे जाने की कामना की थी।[42] दैवयोग से किसी समय तृषित अग्नि के याचना करने पर उस पराक्रमी अर्जुन ने अग्नि को सातों द्वीप भिक्षा में दे दिये। अग्नि ने अपने ताप से पर्वतों, वनों, नगरों, ग्रामों को भस्मसात् कर दिया। आपव नाम से विख्यात वरुणपुत्र वसिष्ठ के रमणीय आश्रम को भी अग्नि की ज्वालाओं ने दग्ध कर दिया।[43] इस दुरवस्था से कुपित वसिष्ठ मुनि ने अर्जुन को शाप दे दिया, जिसके फलस्वरूप जमदग्निपुत्र परशुराम ने कार्तवीर्य की सहस्र भुजाओं को काटकर उसका वध कर डाला। इस प्रकार धर्मनिष्ठा से प्रजा का अनुरञ्जन करने वाला, जिसका धन कभी नष्ट नहीं होता था, वह कार्तवीर्य अर्जुन अपात्र को दान देने के अपराध से मृत्यु को प्राप्त हुआ।[44]

ब्रह्मपुराण के 44वें से 51वें अध्यायपर्यन्त राजा इन्द्रद्युम्न के चरित तथा पुरुषोत्तम क्षेत्र के माहात्म्य का आख्यान परस्पर अनुस्यूत रूप से उपनिबद्ध किया गया है। उज्जयिनी में इन्द्रद्युम्न नामक महाप्रतापी बुद्धिमान् राजा हुआ। परमेश्वर वासुदेव के द्वारा धर्मराज यम के कहने पर जिस पुरुषोत्तम क्षेत्र से इन्द्रनील प्रतिमा हटा दी गयी थी, उसी क्षेत्र में अपनी अनन्य भक्ति और अविचल निष्ठा के बल पर राजा ने वैष्णवी प्रतिमा की प्रतिष्ठा का संकल्प

लिया।[45] भारतवर्ष के अनेक प्रदेशों के राजाओं के सहयोग से उस दृढ़व्रती ने विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया तथा उस पवित्र क्षेत्र में अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान प्रारम्भ कराया। विष्णु मन्दिर के निर्माण के पश्चात् राजा इन्द्रद्युम्न की स्वप्नावस्था में पुरुषोत्तम भगवान् ने स्वयं जगत्पूज्या सनातनी प्रतिमा के निर्माण के लिए समुद्रतटवर्ती वृक्ष से काष्ठ प्राप्त करने की प्रेरणा दी तथा विश्वकर्मा देव के साथ ब्राह्मण-वेश में स्वयं उपस्थित होकर उन्हें कृष्ण, बलराम तथा सुभद्रा की सुरम्य प्रतिमा बनाने हेतु नियुक्त किया।[46] विष्णु मन्दिर में सविधि प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराकर तथा दान एवं दक्षिणा-सामग्री का वितरण कर स्वयं को कृतकृत्य मानते हुए उस पुण्यात्मा ने विश्वात्मा की कृपा से उनके परम पद को प्राप्त किया।[47] ब्रह्मपुराण में यह स्पष्ट उद्घोषणा की गयी है कि इन दिव्य प्रतिमाओं का दर्शन-पूजन करने से मनुष्य पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि कर लेता है-

एवं दृष्ट्वा बलं कृष्णं सुभद्रां प्रणिपत्य च।
धर्मं चार्थं च कामं च मोक्षं च लभते ध्रुवम्।।[48]

इस पुराण के 56वें अध्याय में विष्णु-मार्कण्डेय संवाद के अन्तर्गत भगवान् जगन्नाथ की प्रेरणा से मार्कण्डेय मुनि द्वारा पुरुषोत्तम क्षेत्र में लोकमङ्गल के लिए शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा हेतु शिवालय के निर्माण का प्रसंग है जिसमें गरुड़ध्वज और वृषध्वज अर्थात् हरिहर में अभेद के तत्त्वार्थ को प्रकाशित किया गया है। शिवालय के उत्तर में मार्कण्डेय ह्रद के निर्माण का भी उल्लेख है। यह आख्यान सम्भवतः भुवनेश्वर स्थित लिङ्गराज मन्दिर की पौराणिक प्रतिष्ठा का संकेत करता है जिसके उत्तर में कदाचित् मार्कण्डेय ह्रद की स्थिति रही होगी अथवा यह शिवमन्दिर वर्तमान में पुरी के पास स्थित मार्कण्डेय पुष्करिणी के दक्षिण में स्थापित लोकनाथ शिव का प्राचीन मन्दिर हो सकता है।[49]

प्रलयकाल में अपने तपोबल से अकेले सुरक्षित बचे भूत-वर्तमान-भविष्यत् के ज्ञाता मार्कण्डेय मुनि द्वारा प्रलयदर्शन तथा बालरूप विश्वात्मा में अन्तःप्रविष्ट हो अनन्त ब्रह्माण्ड के अवलोकन का प्रसङ्ग सनातन धर्म की आस्था को सुदृढ़ बनाता है। पुरुषोत्तम क्षेत्र, विष्णुलोक, हिमालयवर्णन, गङ्गा की उत्पत्ति तथा यात्रा-कथा, गौतमी माहात्म्य, सगर-आख्यान, भगवत्लीला, अवतार-कथा, पञ्चतीर्थ, अन्यान्य तीर्थों, सङ्गमस्थलों इत्यादि के वर्णन में धार्मिक आख्यानों की प्रस्तावना करता हुआ ब्रह्मपुराण नारकीय दुःखों से मुक्ति के लिए धर्माचरण की विधियों का विवरण प्रस्तुत करता है।[50] धर्म की प्रतिष्ठा के लिए परमात्मा विश्वरूप धारण करते हैं तथा अपने पृथक्-पृथक् अंशभाग के साथ धरती पर अवतरित होते हैं।[51]

ब्रह्मपुराण में भारतभूमि को तपस्वियों, याज्ञिकों और कर्मयोगियों की भूमि कहा गया है जहाँ विष्णुरूप यज्ञ की आराधना की जाती है।[52] जम्बूद्वीप में भारतवर्ष श्रेष्ठ है जिसमें हजारों जन्मों के बाद पुण्य के संचय से मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। स्वर्ग और मोक्षदायिनी इस धर्मभूमि पर जन्म लेने के लिए देवता भी कामना किया करते हैं।[53]

पुण्य और पापकर्म ही स्वर्ग और नरक रूप हैं जो सुख और दुःख प्रदान करते हैं-

मनःप्रीतिकरः स्वर्गो नरकस्तद्विपर्ययः।
नरकस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तमाः।।[54]

धर्म मनुष्य के दुष्कृतों का परिमार्जन कर उसे पापमुक्त कर देता है।[55] धर्म के विषय में वेद-पुराण-धर्मशास्त्रादि के साथ-साथ सज्जनों का आचरण प्रमाण है इसलिए यह पुराण सदाचारी लोगों की सङ्गति में रहने का उपदेश देता है तथा नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों के अनुपालन के साथ गृहस्थधर्म के निर्वाह को आवश्यक बताता है।[56]

वाणी और मन के संयम तथा इन्द्रियनिग्रह के साथ अपने धर्म का आचरण करने वाला स्वयं तथा लोक के हित-साधन में समर्थ होता है। धर्म मनुष्य को पशुत्व से उठाकर मानवत्व, ऋषित्व, देवत्व और अन्ततः परमात्मस्वरूप के लक्ष्य तक पहुँचाता है। दूषित चित्त वाले दम्भी मनुष्य को तीर्थ, दान, व्रत तथा आश्रमधर्म पवित्र नहीं कर सकते किन्तु जितेन्द्रिय योगी जिस मार्ग से चलता है, वह मार्ग और वह प्रदेश कुरुक्षेत्र, प्रयाग तथा पुष्कर तीर्थ के समान बन जाता है।[57]

ब्रह्मपुराण में सभी वर्णों के लोगों के लिए शास्त्रनियत नित्य कर्म का सम्पादन आवश्यक बताया गया है–

नित्यस्य कर्मणो हानिं न कुर्यात् कदाचन।[58]

सगोत्र में मृत्यु अथवा जन्म होने पर ब्राह्मण 10 दिनों तक, क्षत्रिय 12 दिनों तक, वैश्य 15 दिनों तक तथा शूद्र एक मास तक नित्य कर्म से वंचित रहता है।[59] दर्शपूर्णमास, सन्ध्यावन्दन, पञ्चमहायज्ञ का सम्पादन इत्यादि नित्य कर्म के अन्तर्गत परिगणित कराये गये हैं। जिन कृत्यों का सम्पादन करने पर फलविशेष की प्राप्ति नहीं होने पर भी न करने पर प्रत्यवाय की उत्पत्ति होती हो, वे नित्य कर्म हैं। फलविशेष का जनक होने के साथ विहित नहीं होने पर जो कर्म प्रत्यवायजनक होते हैं, वे नैमित्तिक कर्म के रूप में अनुमोदित हैं। श्राद्धकर्म[60], प्रायश्चित्त[61] इत्यादि इस वर्ग के अन्तर्गत उल्लेखनीय हैं। पुत्रेष्टि, अश्वमेध[62] इत्यादि यज्ञों का अनुष्ठान काम्य संज्ञा से परिगृहीत है जिनके न करने पर प्रत्यवायाभाव तथा करने पर फलविशेष की अवाप्ति सम्भावित है। आचारपरक होने से ये सभी कर्म धर्म की परिभाषा में अन्तर्भाव को प्राप्त करते हैं। ब्रह्मपुराण में स्थान-स्थान पर इनके विधान का उपदेश किया गया है।

यज्ञ सृष्टिप्रकल्प एवं धर्मव्यवस्था का मेरुदण्ड है। ब्रह्मपुराण के अध्याय 161 में पुरुषसूक्त की पूर्णच्छाया का दर्शन होता है जहाँ वैदिक यज्ञ के व्यापक अभिप्राय का सम्यक् समुपबृंहण हुआ है। इस पुराण में सत्य, अहिंसा, धृति, अस्तेय, इन्द्रियनिग्रह, तप, दान, दया, शुश्रूषा आदि मानवीय गुणों अथवा धर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। दम्भ और अभिमान से रहित, देवताओं-अतिथियों की पूजा करने वाले, अभिवादनशील, मृदुभाषी, अहिंसक व्यवहार करने वाले धर्मात्मा लोगों के लिए स्वर्गरूप फल सुलभ बताया गया है।[63] दया, मैत्री, निर्वैरता तथा शील के मार्ग को सज्जनों का मार्ग कहा गया है जिसका अनुसरण करने पर इहलोक अथवा परलोक की सिद्धि में कोई बाधा नहीं रह जाती।[64]

धर्म के मार्ग में 'धृति' का महत्त्व ख्यापित करते हुए इस पुराण में यह स्थापना की गयी है कि जहाँ धृति है वहाँ श्री का स्थान है और जहाँ धृति और श्री हैं वहीं धर्म और विजय की सम्भावना होती है।[65] वामनपुराण में धृति और कर्म के अन्योन्याश्रित होने से इन्हें पुरुषार्थचतुष्टय का साधन बताया गया है।[66] लोक की स्थिति के लिए तप का आचरण अनिष्ट एवं विप्लव का निवारक होने के साथ-साथ अभीष्ट का साधक सिद्ध होता है। *ब्रह्मपुराण* में दधीचिपुत्र पिप्पलाद,[67] चन्द्रवंशीय राजा ययाति,[68] हिमवान्-पुत्री, लोकधारिणी लोकमाताओं-अर्पणा, एकपर्णा तथा एकपाटला,[69] कार्तवीर्य अर्जुन,[70] राजा देवावृध,[71] सगर के वंशज भगीरथ[72] इत्यादि के कठोर तप का विवरण प्राप्त होता है। दानकर्म में इस पुराण में अन्नदान को श्रेष्ठ दान बताते हुए उसकी महिमा का कथन किया गया है।[73] स्कन्दपुराण सत्य को परम धर्म उद्घोषित करते हुए सत्य में ही धर्म की प्रतिष्ठा का ख्यापन करता है[74] तो ब्रह्मपुराण यज्ञ, दान, तप, योग, सत्य, श्रद्धा तथा विविध तीर्थों को स्वर्गरूप आनन्द का द्वार बतलाता है।[75] इस पुराण में मोहवश पापकर्म करके पश्चात्ताप करने वाले की पापमुक्ति की सम्भावना व्यक्त की गयी है।[76] धर्मशास्त्रप्रतिपादित वर्णधर्म का *ब्रह्मपुराण* में यथावत् रूप से उपदेश किया गया है। दान, दया, तप, देवयज्ञ, स्वाध्याय, अग्निहोत्र तथा आजीविका के लिए द्विजों का अध्यापन और यज्ञ कराना ब्राह्मण का कर्त्तव्य बताया गया है। सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव

तथा सम्पूर्ण लोक के हित का सम्पादन ही ब्राह्मण का धन है।[77] शस्त्र धारण करना तथा पृथिवी की रक्षा करना क्षत्रिय की उत्तम आजीविका है। प्रथम कल्प में पृथिवी का पालन ही उसका धर्म बताया गया है क्योंकि इससे यज्ञादि कर्मों की रक्षा हो जाती है–

शस्त्राजीवो महीरक्षा प्रवरा तस्य जीविका।
तस्यापि प्रथमे कल्पे पृथिवीपरिपालनम्।।
धरित्रीपालनेनैव कृतकृत्या नराधिपाः।
भवन्ति नृपते रक्षा यतो यज्ञादिकर्मणाम्।।[78]

इनके साथ संकल्पपूर्वक द्विजों को दान देना, यज्ञ तथा अध्ययन करना भी क्षत्रिय के विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत परिगणित है।[79] यज्ञ, अध्ययन, दान, धर्म तथा नित्य–नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान के साथ कृषि, वाणिज्य और पशुपालन से अपना पोषण करना वैश्य का विशेष धर्म कहा गया है।[80] इस पुराण में शूद्र के लिए भी दान, पाकयज्ञ तथा पितृकर्म के अनुष्ठान का उपदेश दिया गया है।[81] आपत्तिकाल में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य का तथा क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का कार्य कर सकता है। अन्यथा स्थिति में इस पुराण में कर्मसाङ्कर्य का निषेध किया गया है।[82]

वर्णधर्म के साथ–साथ *ब्रह्मपुराण* में मनुष्य के संस्कार और कर्ममार्ग के प्रकाशन के लिए आश्रमधर्म का भी निरूपण किया गया है। उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरुकुल में निवास करते हुए बालक को शौच, सदाचार, सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र कर्म का सम्पादन करते हुए गुरु की शुश्रूषा के साथ वेदाध्ययन करना चाहिए तथा अध्ययन सम्पन्न हो जाने पर गुरु को दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा से ब्रह्मचर्य आश्रम के अनन्तर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[83] गृहस्थाश्रम मानवधर्म के निर्वाह के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण आश्रम है क्योंकि देवताओं, ऋषियों, पितरों, सभी भूतों, अतिथियों के परितोष के लिए कर्म करने का अवसर इसी आश्रम में उपलब्ध होता है तथा संन्यासी और ब्रह्मचारी भी इस आश्रम पर ही निर्भर रहते हैं। श्राद्ध आदि से पितरों को, यज्ञों से देवों को, अन्नादि से अतिथियों को, स्वाध्याय से ऋषियों, सन्तान से प्रजापित, बलिकर्म से भूतों तथा सत्यवाणी से अखिल जगत् को सन्तुष्ट कर मनुष्य निजकर्म को सफल बना लेता है।[84] गृहस्थ के लिए तिरस्कार, अभिमान, दम्भ, निन्दा, घात और कठोरता प्रशस्त नहीं है।[85] अवस्था की अग्रिम परिणति पर गृहस्थाश्रम में कृतकृत्य मनुष्य को पुत्रों पर पत्नी का भार सौंप कर अकेले अथवा पत्नी के साथ वन में प्रस्थान करने का निर्देश दिया गया है।[86] वहाँ फल–मूल के आहार पर निर्भर रहकर भूमि पर शयन करते हुए मुनि की भाँति वानप्रस्थ धर्म के निर्वाह की अपेक्षा की गयी है। शीत, ग्रीष्मादि ऋतुओं के प्रभाव से अविचलित रहते हुए त्रिकाल स्नान, देवपूजन, हवन, अभ्यागतों का सत्कार, भिक्षा तथा जीवों के लिए बलि प्रदान करने का कर्म सम्पन्न कर वानप्रस्थी अग्नि की भाँति अपने दोषों को जलाकर शाश्वत लोकों को प्राप्त करते हैं।[87] चतुर्थ आश्रम को इस पुराण में मोक्षाश्रम की संज्ञा दी गयी है।[88] रागद्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि दोषों से रहित तथा सर्वसङ्ग से विमुक्त होकर संन्यासी को मन, वचन, कर्म से सभी पशु–पक्षियों तथा अन्य प्राणियों के प्रति द्रोह का परित्याग कर, सबके प्रति मैत्रीभाव रखते हुए प्राणयात्रा के लिए भिक्षाटन करने का धर्मोपदेश किया गया है। विप्र का यह आचरण अग्निहोत्र के तुल्य है। उसके लिए त्रैवर्णिक कर्मों के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती। भिक्षान्न रूप हव्य की शरीरस्थ अग्नि में आहुति अर्पित करता हुआ पवित्र अग्निहोत्री इन्धनरहित ज्योतिर्मण्डल की भाँति प्रशान्त ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[89] इस प्रकार भिन्न–भिन्न वयश्चरणों में अपने गुण और शक्ति के अनुरूप शास्त्रोपदिष्ट कर्म के निर्वाह द्वारा सृष्टि के चराचर समुदाय का धारण–पोषण करता हुआ मनुष्य वास्तव में मानवीय धर्म की सार्थकता को सिद्ध करता है।

इस पुराण के 217वें अध्याय में लौकिक तथा पारलौकिक सिद्धि के लिए धर्म, अर्थ और काम में धर्म की श्रेष्ठता का व्याख्यान करते हुए लोमहर्षण ऋषि ने व्यास जी द्वारा प्रस्तुत निष्कर्ष को इस प्रकार उद्घाटित किया है--जन्म-मृत्यु अथवा दुर्गति की स्थिति में मनुष्य नितान्त एकाकी रहता है। सांसारिक सम्बन्ध उसे किसी प्रकार का अवलम्बन नहीं दे पाते। माता-पिता, भाई-पुत्र, गुरु, बन्धु-बान्धव, मृत शरीर को लकड़ी अथवा मिट्टी के ढेले के समान छोड़ देते हैं और दो घड़ी रोकर निवृत्त हो जाते हैं। केवल धर्म उसका सहायक होता है।[90] धर्म के पालन से उसकी सुरक्षा सुदृढ़ होती है। यद्यपि लोभ, मोह, दया अथवा भय से विद्वान् व्यक्ति भी कभी-कभी अकर्म कर बैठता है किन्तु पञ्चभूत, मन, बुद्धि और आत्मा उसके कर्म के निरन्तर साक्षी बने रहते हैं।[91] धर्म के सम्यक् आचरण से वह उत्कृष्ट लोक स्वर्ग का अधिकारी होता है।

अर्थ

पुरुषार्थचतुष्टय में 'अर्थ' द्वितीय स्थान पर परिकल्पित है। अर्थ वह अभिलषित साधन है जिससे मनुष्य की जीवन-यात्रा सञ्चालित होती है। धर्माचरणपूर्वक अर्जित वे सभी साधन अर्थ पद से वाच्य हैं जिनसे अन्य पुरुषार्थों की सिद्धि सम्भव हो पाती है। अर्थ से ही धर्माचरण और सुख की प्राप्ति हो सकती है। यह धर्म और काम-दोनों पुरुषार्थों का प्राणतत्त्व है। अतः चाणक्य ने कहा है-

वृत्तिमूलमर्थलाभः। अर्थमूलौ धर्मकामौ।।[92]

तथा-

धर्मस्य मूलमर्थः।[93]

वात्स्यायन के *कामसूत्र* में अर्थ का व्यापक अभिप्राय प्रकाशित करते हुए तदन्तर्गत विद्या, कला, कृषि, पशुपालन, हिरण्य, धनधान्य, मित्रलाभ इत्यादि का अन्तर्भाव किया गया है।[94] अर्थ के प्रति सभी प्राणियों की सहज प्रवृत्ति होती है। 'अर्थार्थं प्रवर्तते लोकः'[95] की उक्ति द्वारा कौटिल्य ने इस तथ्य को प्रकट किया है। शास्त्रोक्त विधियों तथा अन्य पुरुषार्थों का साधन होने से जीवन की सार्थकता में अर्थ मुख्य हेतु बन जाता है।

समग्र अर्थसम्भार की योनि होने से वसुमती अर्थवती है। इस पृथिवी से वैदिक ऋषियों ने निरन्तर प्रवर्धमान, स्वास्थ्य-शक्ति-यशोवर्द्धक, स्वस्तिकर, अक्षय धन की कामना की है।[96] मनु, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य इत्यादि आचार्यों के शास्त्रों में उपदिष्ट इस पृथिवी के पालन अर्थात् अर्थोपार्जन का कर्म भी अर्थरूप ही है। संसार में मनुष्य की प्रतिष्ठा के कारणों में अर्थ का चिन्तन समाविष्ट है किन्तु साधनों का अविवेकपूर्ण उपयोग उसकी ऊर्जा और यश को क्षीण कर उसे परम पुरुषार्थ के मार्ग से विचलित कर देता है। भारतीय संस्कृति में पुरुषार्थों में अर्थ का स्थान भौतिक एषणाओं के साधनमात्र की दृष्टि से अपेक्षित न होकर धर्मनिष्ठापूर्वक लोकव्यवहार और मोक्षमार्ग पर सञ्चरण के लिए साधन के रूप में अपेक्षित है। नीतिविशारद चाणक्य ने अर्थशास्त्र में विद्यासमुद्देश, वृद्धसंयोग, इन्द्रियजय इत्यादि प्रकरणों द्वारा न्यायोचित उपायों से अर्थ के साधन का अनुशासन किया है। ब्रह्मपुराण में व्यवहार की दृष्टि से अर्थ के इस वैशिष्ट्य को सरल शब्दों में व्यक्त किया गया है-

धर्मो धर्मानुबन्धार्थो धर्मो नात्मार्थपीडकः।[97]

अर्थात् धर्म का सहायक अर्थ भी धर्मरूप ही है। वस्तुतः जो अर्थ धर्म के लिए है वही वास्तव में अर्थ है। जीवन के लिए अर्थ अपरिहार्य है इसलिए नीतिग्रन्थों में सत्साहस और सदुपाय से अर्थोपार्जन का मार्ग प्रदर्शित किया गया है। *ब्रह्मपुराण* में विधिपूर्वक विवाह कर अपने कर्म से अर्जित धन से गृहस्थ धर्म के सम्पादन की व्यवस्था निर्दिष्ट है-

विधिनाऽवाप्तदारस्तु धनं प्राप्य स्वकर्मणा।
गृहस्थकार्यमखिलं कुर्याद् विप्राः स्वशक्तितः।।[98]

ब्राह्ममुहूर्त में उठकर शान्त, एकाग्र चित्त से धर्म और अर्थ के चिन्तन, आचरण तथा अधिगम का निर्देश यह संकेत देता है कि ऐहलौकिक तथा पारलौकिक-उभयदृष्टि से जीवन में इन दोनों पुरुषार्थों का परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध तथा अनिवार्य उपादेयता है।[99]

गीता में "योगक्षेमं वहाम्यहम्"[100] का उद्घोष कर पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण ने जीवन में अपरिग्रह-भाव को पुष्ट करने का मूल मन्त्र दिया है। अर्थ का सर्वोत्तम उपयोग योग्य पात्र को उसका दान करना है। नीतिमर्मज्ञ भर्तृहरि ने धन के त्रिविध परिणाम गिनाये हैं–दान, भोग और नाश।[101] सत्पात्र के लिए दान को धन का सर्वोत्तम उपयोग बताते हुए[102] उन्होंने दानशीलता के कारण गलितविभव मनुष्यों का यशोगान किया है।[103] चाणक्य ने भी "देयं भोज्यधनं सुकृतिभिर्नो सञ्चयस्तस्य वै"[104] कहकर भोज्यान्न इत्यादि के रूप में धन के दान की प्रशंसा की है। ब्रह्मपुराण में जम्बूद्वीपस्थ भारतवर्ष के वर्णन के अन्तर्गत पारलौकिक दृष्टि के कारण आदरपूर्वक दान देने की परम्परा का उल्लेख मिलता है।[105] अन्नदान को सर्वश्रेष्ठ दान घोषित करते हुए इसे सनातन धर्म की रक्षा के उपायों में गिनाया गया है।[106] अन्न ही प्राण है, उसी से सभी लोकों की प्राप्ति होती है। अन्न में सभी लोक प्रतिष्ठित हैं। देव-ऋषि-पितृ-मानव सभी अन्न की प्रशंसा करते हैं।[107] अन्नदान सभी दानों और धर्मों का मूल है।[108] द्विजों के लिए न्यायपूर्वक प्राप्त अन्न के दान के उपदेश के साथ उसके पुण्यप्रद फल का उद्घाटन भी इस पुराण में विशिष्ट शैली में किया गया है। अन्नदान से मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त करता है, जो प्रसन्न मन से दस ब्राह्मणों को भोजन कराता है वह पक्षी की योनि से मुक्त हो जाता है तथा दस हजार ब्राह्मणों को भोजन कराकर अधर्म से मुक्त हो जाता है।[109] भिक्षावृत्ति से अन्न लाकर वेदाध्ययन में रत ब्राह्मणों को समर्पित करने वाला विप्र सुख प्राप्त करता है, ब्राह्मणों के धन की रक्षा कर उन्हें अन्नदान करने वाला क्षत्रिय, कृषि के छठें पवित्र भाग का दान करने वाला वैश्य तथा प्राणपण से प्राप्त धन का दाता शूद्र भी पापमुक्त हो जाता है।[110] ऊर्जा प्रदान करने वाले धन का दान कर दाता स्वयं ऊर्जस्वी बन जाता है।[111]

दान इत्यादि अर्थकर्म में भावशुद्धि की महत्ता ब्रह्मपुराण में प्रमुखता से प्रकट की गयी है। भक्ति, समाधि, स्तुति तथा मन के साथ प्रदत्त दान को देव, मनुष्य, पितर स्वीकार करते हैं। नास्तिकों का दान देवगण को स्वीकार्य नहीं होता।[112] इस पुराण में धनोपार्जन तथा उसके उपयोग में साधन की शुचिता का पद-पद पर स्मरण दिलाया गया है–न्यायोचित उपायों से उपार्जित अन्न का दान ही उत्तम दान होता है।[113] स्वस्थचित्त हो धर्मबुद्धि से सञ्चित अन्न का दान करने वाले को पाप स्पर्श नहीं करता।[114] इसलिए मनुष्य को किसी भी अवस्था में न्यायपूर्वक ही अन्नोत्पादन करना चाहिए।[115] ब्राह्मण के धन का अपहरण न कर उसकी रक्षा करने से क्षत्रिय पुण्य का भागी होता है।[116] ब्रह्मपुराण की शब्दावली में पण्डित को अधर्माचरण से एकत्रित धन में अनुरक्त नहीं होना चाहिए।[117] चतुर्वेदी ब्राह्मण भी मोहवश पतितों का दान ले लेने पर कई जन्मों में निकृष्ट योनि को प्राप्त होता है।[118] इसी प्रकार की अधोगति पतितों के यहाँ यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण की होती है।[119] स्वामी के साथ विश्वासघात करने वाले, किसी की धरोहर का अपहरण करने वाले, अन्न-वस्त्रादि की चोरी करने वाले के लिए भी नरक तथा कृमि, शूकर, मूषक, श्वान आदि योनियों में जन्म लेकर दुःख भोगने के अनन्तर मानव-शरीर की प्राप्ति सम्भव बतायी गयी है।[120] गृहस्थाश्रम में उचित अर्थसाधन से देवकर्म तथा पितृकर्म का सम्पादन नहीं करने वाला काक-कुक्कुट-सर्प योनि में शरीर धारण के लिए कर्मबद्ध होता है।[121] निःशस्त्र की हत्या कर धन का अपहरण करना भी कष्टकर शरीर धारण

का कारण बनता है।[122] इन पापकर्मियों की पत्नियाँ अथवा स्वयं दुष्कृत में संलग्न स्त्रियाँ भी इसी प्रकार दुःखद फल की भागी होती हैं।[123]

ब्रह्मपुराण में अनेक आख्यानों द्वारा अर्थसिद्धि में साधन की पवित्रता का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। निदर्शनार्थ अष्टम अध्याय में त्रय्यारुण नामक राजा के द्वारा कामचापल्य के कारण परित्यक्त पुत्र सत्यव्रत की कथा वर्णित है। विश्वामित्र की पत्नी और पुत्रों का भरण-पोषण करने के लिए वह प्रतिदिन वन्य पशुओं को मारकर लाता था। एक दिन वन्य पशु के नहीं मिलने पर कुलगुरु वसिष्ठ से पहले से ही कुपित उसने उनकी धेनु कामधेनु को मारकर विश्वामित्र-पुत्रों के साथ उसका मांसभक्षण किया। पिता का असन्तोष, गुरु की गाय का वध और असंस्कृत मांस का सेवन–उसके तीन घोर शङ्कु हुए जिनके कारण क्रुद्ध वसिष्ठ ने उसे त्रिशङ्कु यह कुख्यात नाम दे दिया।[124]

पृथुजन्म के आख्यान में पृथु के पिता तथा अङ्ग नामक ऐश्वर्यशाली प्रजापति के अहङ्कारी पुत्र वेण की कथा वर्णित है। उस दुर्बुद्धि, अधर्मी को धर्ममार्ग पर लाने में विफल महर्षियों ने क्रोध में आकर उसका वध कर डाला। इस प्रकार अधर्मवृत्ति के कारण राजा वेण इस दुर्गति को प्राप्त हुआ। पृथु जैसे महात्मा पुत्र के जन्म लेने से उसकी नरक से रक्षा हो सकी।[125]

पितरों के लिए किए जाने वाले श्राद्धकर्म में भी इस पुराण में धन की पवित्रता का विशेष उल्लेख किया गया है। गृहस्थ के लिए देव-अग्नि-पितृकर्म तथा गुरु की वन्दना करने के पश्चात् ही भोज्यान्न ग्रहण करने का निर्देश है।[126] अन्यायपूर्वक उपार्जित धन से विहित श्राद्ध से चाण्डाल आदि योनियों में भी तृप्ति नहीं प्राप्त होती।[127] मनुष्य शाक के साथ भी विधिपूर्वक श्राद्धकर्म सम्पन्न कर सकता है।[128] संयमी, अग्निहोत्री, पवित्र, विद्वान् तथा श्रोत्रिय ब्राह्मणों को श्राद्ध के द्रव्य का दान करना चाहिए[129] तथा त्रिणाचिकेत, वेदाङ्गवेत्ता, मातृपितृभक्त, सामवेदज्ञ, ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य और उपाध्याय को भोजन कराना चाहिए।[130] इस अवसर पर समय से भिक्षा के लिए आये हुए संयमी सन्यासियों-योगियों को आदर और विनयपूर्वक भोजन कराना अभीष्टकर बताया गया है।[131] हजारों ब्राह्मणों में एक भी योगी हो तो वह यजमान तथा भोजन करने वालों को नाव की तरह बनकर तार देता है।[132] विधिपूर्वक श्राद्ध कर तथा ब्राह्मणों को उत्तम भोजन कराकर प्रणाम-निवेदन के साथ उन्हें विदा करना चाहिए क्योंकि श्राद्ध से सन्तुष्ट पितर आयु, प्रजा, धन, विद्या, स्वर्ग, मोक्ष, राज्य और सुख प्रदान करते हैं तथा वसु-रुद्र-ग्रह-नक्षत्रादि को अनुकूल बना देते हैं।[133]

काम

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"[134] तथा "कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः[135] ऋषियों द्वारा वैदिक संहिताओं में दृष्ट परमात्मा की यह विशुद्ध, अपूर्व कामना उस अद्वितीय की असङ्ख्य रूपों में अभिव्यंजना का कारण बन जाती है। स्वयं से अभिन्न इस 'काम' को "धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ"[136] इस प्रकार *श्रीमद्भगवद्गीता* में व्यक्त करते हुए पुरुषोत्तम भगवान् केशव ने पुरुषार्थों में इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। *ब्रह्मपुराण* के आरम्भ में ही सृष्टि के विस्तार की हेतुभूत स्वयंभू परमेश्वर की सिसृक्षा का दर्शन होता है। ब्रह्माण्ड के विराट् शिल्प की संरचना उनके इस अमोघ काम की ही परिणति है–

ततः स्वयंभूर्भगवान् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्य्यमवासृजत्।।[137]

× × × ×

हिरण्यवर्णमभवत्तदण्डमुदकेशयम् ।

तत्र जज्ञे स्वयं ब्रह्मा स्वयंभूरिति नः श्रुतम्।।[138]
द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां तु सोऽसृजद्विविधाः प्रजाः।।[139]

परमात्मा की यह कामना सृष्टि-यज्ञ का उपादान है। कामना का विषय होने से यह 'काम' संज्ञा से अभिहित होती है। लोकजीवन में धर्म और अर्थ की तरह काम सर्वविध उद्यम का मूल होने से मानवमात्र का अभीष्ट है। भगवान् मनु के शब्दों में यद्यपि संसार में कामात्मता प्रशस्त नहीं है किन्तु कामना का अभाव सम्भव नहीं है। मनुष्य की समस्त चेष्टाएँ कामना से ही प्रेरित होती हैं–

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।[140]

तथा–

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।।[141]

लोकानुरूप, धर्मबुद्धिपूर्वक सेवित काम अन्य पुरुषार्थों की सिद्धि में सहायक होता है जबकि इसका अनियमित, अनियन्त्रित आचरण मनुष्य को पथभ्रष्ट कर देता है। कौटिल्य के मत में कामसुख जीवन के लिए अनिवार्य होता है किन्तु वही काम प्रशस्य है जो धर्म और अर्थ का विरोधी न हो–

धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्।[142]

महाभारत में धर्म के साथ अर्थ और काम के सेवन का निर्देश प्राप्त होता है–

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।[143]

लोक में सृष्टि-परम्परा की स्थिति तथा व्यवहार के लिए काम की स्वाभाविक अपेक्षा होती है और सृष्टिचक्र में मानव-जीवन चरम उद्देश्य आत्मोद्धार का साधन बन जाता है। अतः काम इस आध्यात्मिक लक्ष्य का अनिवार्य कारक सिद्ध होता है। कहीं चित्तविक्षेप बनकर अन्तर्मुखी हो यह देही को निवृत्ति की ओर ले जाता है तो कहीं बाह्य आकर्षण में आबद्ध हो लोक-सुख में प्रवृत्त करता है। वेदान्त की भाषा में प्रवृत्ति और निवृत्ति का विवेचन अविद्या और विद्या नाम से किया गया है।[144]

भौतिक दृष्टि से त्रिवर्ग के अन्तर्गत काम का विशिष्ट स्थान है। यह यद्यपि मन का भाव है तथापि इसकी प्रवृत्ति में विषयसंयोग की अनिवार्य अपेक्षा होने से भोगविषय भी 'काम' संज्ञा से सम्बोधित किए गये हैं।[145] इस प्रकार भौतिक स्तर पर इन्द्रियसुख की कामना, इन्द्रियविषय तथा इन्द्रियसुख–तीनों अर्थों में 'काम' शब्द की वाचकता देखी जाती है। तत्त्वतः रूप, रस, शब्द, गन्ध, स्पर्श के सभी अधिकरणों में कामता की स्थिति है तथापि कामज संसार में प्रधान रूप से स्त्री-पुरुष संयोगसुख काम शब्द से व्यवहृत होता है। सुख की कामना काम में प्रवृत्ति का मूल कारण होती है जिससे प्रेरित होकर सभी प्राणी अपने भोग्य विषयों में स्वतः अनुरक्त होते हैं। *ब्रह्मपुराण* की उक्ति इस सामान्य प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है–

भूतानां विषये प्रीतिर्वत्स स्वाभाविकी यतः।[146]

भिन्न-भिन्न कथाओं-आख्यानों के माध्यम से ब्रह्मपुराण में मानव के इस कामरूप प्रयोजन का भी विशद विवरण प्राप्त होता है। शिव-विवाह के अवसर पर हिमालय पर छहों ऋतुओं के अवतरण का सुन्दर चित्र चित्त को आवर्जित करता है। वसन्तावतार के प्रभाव से चराचर-मण्डल सहित प्रकृति कामविह्वल-सी प्रतीत हो रही है।

शालवृक्षों से लिपटी प्रफुल्ल अशोकलताएँ प्रियतम के गले में भुजबन्ध डाले कामिनियों की तरह शोभायमान हो रही हैं।[147] पत्र-पुष्प और फलों से आच्छादित वृक्षों, हंस, कुमुद, मीन आदि से समृद्ध सरोवरों तथा रंग-बिरंगे पंखों वाले पक्षियों के कल-कूजन से व्याप्त सभी प्रदेश काम के वैभव को प्रकाशित कर रहे हैं।[148] इस प्रकार चन्दन-चम्पा इत्यादि पुष्पवृक्षों के प्रभाव से सुरभित हिमालय पर प्रमत्त पुंस्कोकिलों के प्रलाप, कोयलों की मृदु, कलध्वनि और मयूरों के केका स्वर से सबल हो कामदेव त्रिदश-वनिताओं को लक्ष्य कर शरप्रहार करने को समुद्यत हो गये।[149]

इस पुराण के 38वें अध्याय में विवाह के पश्चात् शिव के उमा के साथ हिमाचल पर रमण करने की कथा उल्लिखित है। काम को दग्ध कर वृषध्वज ने अपनी प्रिया उमा के साथ प्रसन्न मन से रमण किया-

दग्ध्वा कामं ततो विप्राः स तु देवो वृषध्वजः।
रेमे तत्रोमया सार्धं प्रहृष्टस्तु हिमाचले।।[150]

निष्काम शिव का अपनी शक्ति शिवा के साथ आनन्दनिर्भर हो जाना वस्तुतः उनके अविच्छिन्न संयोग को संकेतित करता है। इस स्तर पर कामना लौकिक न होकर चरम पुरुषार्थ की मार्गदीपिका बन जाती है और तब "मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"[151] कौटिल्य की इस उक्ति का तात्पर्य यथार्थतः स्पष्ट होने लगता है। तारकासुर के वध के लिए शम्भुपुत्र के जन्म को उद्देश्य बनाकर देवगुरु बृहस्पति ने वसन्त-सहचर कुसुमायुध कामदेव[152] को शिव पर प्रहार करने के लिए प्रेरित किया।[153] अपने इस अभियान में यद्यपि मन्मथ शिव की नेत्रज्वाला से भस्मशेष हो गया तथापि उसके आवेग से विद्धचित्त शिव ने देवताओं के निवेदन पर शीघ्र ही पार्वती को अपनी पत्नी बनाना स्वीकार कर लिया।[154] इस पुराण के 138वें अध्याय में भानुतीर्थ (माधुच्छन्द तीर्थ)के माहात्म्य-वर्णन के अवसर पर भारतीय संस्कृति में दम्पती के सुखद साहचर्य के आधारभूत काम का विशेष महत्त्व के साथ वर्णन प्राप्त होता है। दिग्विजय अभियान से लौटते हुए राजा शर्याति ने अपने ब्राह्मण पुरोहित मधुच्छन्दा को अन्यमनस्क तथा क्षीणशक्ति देखकर उनकी इस अवस्था का कारण पूछा। प्रत्युत्तर में ब्राह्मण पुरोहित ने कामभावना से प्रतीक्षारत अपनी भार्या के साथ रात्रि में होने वाले समागम तथा इस प्रसंग में उसके प्रतीक्षासूचक वाक्यों के स्मरण को कारणरूप में रेखाङ्कित किया। मधुच्छन्दा के वचन की उपेक्षा करते हुए राजा ने विस्मय प्रकट किया-

क्षणविध्वंसिनि सुखे का नामाऽऽस्था महात्मनाम्।[155]

उनके इस कथन का प्रतिवाद करते हुए पुरोहित ने पतिपत्नी के मध्य प्रणयसुख को त्रिवर्ग का सम्पोषक, परम काम्य तथा जीवन में सौन्दर्य का जनक घोषित किया।[156]

चन्द्रवंशीय राजा नहुषपुत्र ययाति की कथा में उनकी कामलिप्सा को प्रमुखता से चिह्नित किया गया है। राजा की द्वितीय पत्नी वृषपर्वा-पुत्री शर्मिष्ठा के प्रति अधिक अनुराग के कारण अपनी पुत्री देवयानी की उपेक्षा की सूचना पाकर कुपित शुक्राचार्य ने राजा को असमय में वृद्ध होने का शाप दे दिया।[157] अतृप्तकाम ययाति ने बारी-बारी से देवयानी से उत्पन्न पुत्रों यदु और तुर्वसु तथा शर्मिष्ठा से उत्पन्न पुत्रों द्रुह्यु, अनु और पूरु से राजा को अपना यौवन देने तथा उनका वार्द्धक्य ले लेने के लिए याचना की। सभी पुत्रों में शर्मिष्ठा के पुत्र पूरु ने उनका आदेश शिरोधार्य किया तथा उनका वार्द्धक्य लेकर उन्हें अपना यौवन दे दिया। एक सहस्र वर्ष तक विविध भोगों को भोगकर तृप्त हो ययाति पुत्र को उसका यौवन लौटाने तथा अपना वार्द्धक्य वापस लेने को उद्यत हुए।[158] किन्तु मनस्वी पूरु ने इसे स्वीकार नहीं किया और गौतमी गंगा के दक्षिण तट पर तपस्या से शिव को प्रसन्न कर वह 'जरा' से मुक्त हुआ।[159] ब्रह्मपुराण के आरम्भ में 12वें अध्याय में भी ययाति की कथा वर्णित है जहाँ इसका अन्त राजा ययाति की सर्वथा भिन्न मनोदशा के साथ प्राप्त होता है-

यदा न तृप्तः कामेषु भोगेषु च नराधिपः।
तदा पुरोः सकाशाद्वै स्वां जरां प्रत्यपद्यत।।[160]

पृथिवी पर विचरण करते हुए तथा भोगों का अन्त पाने की लालसा करते हुए राजा ने विश्वाची के साथ चैत्ररथ वन में बहुत दिनों तक रमण किया किन्तु भोगों से तृप्ति नहीं प्राप्त होने पर पुत्र से अपना वार्द्धक्य वापस लेकर धर्मशास्त्र की शैली में तृष्णा (काम) की निन्दा करने लगे।[161]

ब्रह्मपुराण में पार्वती द्वारा शिव को पति के रूप में वरण करने के विषय में एक और प्रसङ्ग उल्लेखनीय है। 35वें अध्याय में वर्णित कथा के अनुसार विकृत वेश धारण कर शिव ने हिमवान् से पार्वती की याचना की।[162] भयभीत हिमवान् ने इस प्रयोजन से विप्रपूजित स्वयंवर के आयोजन की बात कहकर पार्वती की इच्छा से वर के निश्चय का भाव प्रकट किया।[163] उमा के पास लौटकर वृषभध्वज स्वयं को उनके अयोग्य बताकर वहाँ से प्रस्थान करने को उद्यत होते हैं। इस स्थिति में मन से शिव का वरण कर सुमुखी उमा उनके कन्धे पर अशोक का पुष्पगुच्छ रखकर अपने प्रणय का विश्वास दिलाती हैं–

गृहीत्वा स्तबकं सा तु हस्ताभ्यां तत्र संस्थिता।
स्कन्धे शम्भोः समाधाय देवी प्राह वृतोऽसि मे।[164]

प्रसन्न होकर शिव ने प्रणयप्रकाशन के साक्षी बने अशोक को कामरूप, कामपुष्प, कामद, देवताओं का अत्यन्त प्रिय तथा अजर–अमर होने का वरदान दे दिया।[165] अशोक वृक्ष का यह कामद स्वरूप अन्य पुराणों तथा लौकिक संस्कृत वाङ्मय में भी यत्र–तत्र प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण[166] के अनुसार राजा ययाति ने अपनी प्रेयसी शर्मिष्ठा के लिए अशोकवनिका के पार्श्व में भवन बनवा रखा था। कालिदास के प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्रम् में नायक–नायिका के मध्य प्रणय की कथा अशोकवृक्ष के दोहद की योजना से आरम्भ होकर इस अनुष्ठान की सम्पूर्ति के साथ सम्पन्न होती है।

तीर्थों के माहात्म्यवर्णन–क्रम में ब्रह्मपुराण अविघ्नतीर्थ, शेषतीर्थ, आत्मतीर्थ, सोमतीर्थ, विदर्भासंगम, रेवतीसंगम, पूर्णतीर्थ, नागतीर्थ, वृद्धासंगमतीर्थ, कोणादित्य क्षेत्र इत्यादि में दर्शन–पूजन तथा सुकृतसम्पादन से सभी कामनाओं की पूर्ति का प्रत्यय दिलाता है। भाग्यशाली ज्ञानी पुरुष सत्कर्म के प्रभाव से दिव्य लोकों को प्राप्त करते हैं जहाँ चन्द्रमुखी दिव्याङ्गनाओं तथा वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रमणियों से उनका संयोग होता है।[167] वासुदेव श्रीकृष्ण के पूजन से मनुष्य चारों पुरुषार्थों की सिद्धि कर लेता है।[168] गन्धर्व और अप्सराएँ विष्णुभक्तों को वस्त्र इत्यादि से सजाती हैं।[169] अन्तरिक्ष–गन्धर्व–आदित्य–चन्द्र–नक्षत्र–देव–इन्द्र–प्रजापति–पितामह इत्यादि के लोकों में अधिसङ्ख्य मन्वन्तरों तक दुर्लभ भोगों को भोगकर विष्णुभक्त ब्राह्मणों के उत्तम कुल में वेदशास्त्र में पारङ्गत योगी के रूप में जीवन प्राप्त करते हैं।[170] रत्न के पर्वत पर चढ़कर मनुष्य जिस प्रकार स्वेच्छा से रत्नसंग्रह कर सकता है अथवा कल्पवृक्ष से अभिलषित का सञ्चय कर सकता है उसी प्रकार कृष्ण की अनुकम्पा से सभी मनोरथों को पूर्ण कर सकता है।[171] सत्य के आचरण से मनुष्य की कोई भी कामना अपूर्ण नहीं रहती, वह चारों पुरुषार्थों की सिद्धि कर कृतकृत्य हो जाता है।[172]

इस प्रकार ब्रह्मपुराण में धर्मनिष्ठा के साथ विहित उद्यमों से काम की उपलब्धि का विवरण देते हुए इसके सात्त्विक पक्ष का प्रकाशन किया गया है। अन्य अनेक स्थानों पर अनुचित कामसेवन से विपरीत, अनिष्टकर परिणामों की सूचना दी गयी है।

शिव–पार्वती के पाणिग्रहण के अवसर पर जब शिव ने पार्वती के दाहिने पैर के अंगूठे का स्पर्श किया,

पार्वती के अंगूठे को देखकर ब्रह्मा के मन में काम का उद्रेक हुआ जिसके फलस्वरूप उन्हें वीर्यपात हो गया। उस समय सङ्कोचग्रस्त ब्रह्मा को निष्पाप करने के उद्देश्य से शिव ने विषयों के दुर्दम्य प्रभाव का इस प्रकार उद्घाटन किया—

मोहयन्त्यपि विद्वांसं विषयाणामियं स्थितिः।।[173]

एक स्थान पर पञ्चतीर्थ माहात्म्य का वर्णन करते हुए ब्रह्मा मुनिगण के समक्ष अपनी पाँच पुत्रियों में अन्यतम सुन्दरी पुत्री पर कामान्ध हो जाने की कथा का उल्लेख करते हैं। भयभीत होकर वह मृगी का रूप धारण कर पलायन करने लगती है। ब्रह्मा मृगरूप धारण कर उसका अनुसरण करते हैं। धर्म की रक्षा के लिए धनुष-बाण सहित व्याध के रूप में शिव को सम्मुख उपस्थित देखकर संयत होते हुए ब्रह्मा पुत्री को विवस्वान् के हाथों में सौंपकर पापनिवृत्त होते हैं।[174] इस प्रकरण में सावित्री, गायत्री, श्रद्धा, मेधा और सरस्वती ये पाँच नदियाँ ब्रह्मा की पुत्रियों के रूप में वर्णित हैं। ये जहाँ-जहाँ गंगा में मिलीं, वे स्थान पञ्चतीर्थ नाम से विख्यात हुए।[175] वस्तुतः यह कथा प्राकृतिक आधार पर कल्पित है जिसमें ब्रह्मा (प्रजापति-सूर्य) तथा सरस्वती (ज्योतिर्मयी उषा) इत्यादि के सादृश्यपरक प्रतीकों के सङ्केत से काम के असंयत उपभोग का निषेध किया गया है।

अध्याय 101 में पुरूरवा के सरस्वती के साथ रमण करने की कथा आती है। उनके सम्पर्क से सरस्वान् नामक पुत्र पैदा हुआ।[176] इस रहस्य को जानकर कुपित ब्रह्मा ने सरस्वती को महानदी होने का शाप दे दिया। इसके बाद गङ्गा ने ब्रह्मा से सरस्वती को शापमुक्त करने के लिए विनयपूर्वक निवेदन किया। इस अवसर गङ्गा के मुख से स्त्रियों में कामचापल्य की प्रबलता का वर्णन किया गया है।[177] इसी प्रकार पुरूरवा-उर्वशी प्रणयोदय कथा में कामिनियों को कामरूपी मोह की सशक्त भाविका बताया गया है—

को न मोहमुपयाति विलोक्य मदिरेक्षणाम्।।[178]

परम धार्मिक राजा पुरूरवा रम्य ललना उर्वशी पर अनुरक्त हो गया जिसने नग्नावस्था में राजा का दर्शन न होने तक उसके साथ रहने की प्रतिज्ञा कर प्रणयसम्बन्ध स्वीकार किया।[179] प्रतिज्ञाभङ्ग हो जाने पर जब वह राजा को छोड़कर चली जाती है तब पुरोहित वसिष्ठ स्त्रीहृदय को शालावृक की भाँति मनोवृत्ति वाला तथा उनकी प्रकृति को नृशंस, वञ्चनामय, कुशील घोषित करते हुए उनकी निन्दा करते हैं।[180]

अन्यत्र भी स्त्रीदर्शन को अमोघ कामास्त्र के रूप में चित्रित करते हुए ब्रह्मा कहते हैं—धैर्य, ज्ञान, वृद्धि और इन्द्रिय-संयम में मनुष्य तभी तक उत्कृष्ट बना रहता है जब तक वह कामिनी के नेत्रकटाक्ष से आकृष्ट नहीं होता। कुलवधुओं के शीलच्युत होने की आशंका से ही उनके लिए एकान्त में परपुरुषदर्शन का निषेध किया गया है।[181] यह कथन वस्तुतः अत्रिपुत्र चन्द्रमा और बृहस्पति की पत्नी तारा के अनुचित कामप्रसङ्ग को लक्ष्य करता है। गुरु बृहस्पति से यथाविधि विद्याध्ययन कर चन्द्रमा उनके निर्देश पर गुरुपत्नी तारा के सम्मुख गुरुपूजा की विधि जानने के लिए पहुँचता है परन्तु रति के समान सुन्दरी तारा को देखकर कामविह्वल हो अपना विवेक खो देता है।[182] गुरु के क्रोध, शाप अथवा शस्त्रप्रहार का उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं होता। निःशङ्क, निर्भीक होकर निर्लज्जतापूर्वक गुरुपत्नी का अपहरण कर वह अपने भवन में ले जाता है और रोहिणी के साथ वर्षों उसका उपभोग करता है।[183] तत्पश्चात् देवगुरु के कहने पर शुक्राचार्य मद के वशीवर्ती होकर अधर्मपूर्वक कामसेवन करने वाले चन्द्रमा को कुष्ठरोग से ग्रस्त होने का शाप दे देते हैं।[184] मृगलाञ्छन चन्द्र कवि शुक्र के शाप से उसी समय दग्ध हो गया जबकि श्रुति के निर्देश पर शुक्राचार्य ने तारा को बृहस्पति सहित गौतमी में स्नान कर पापमुक्त होने का उपाय बताया।[185]

ब्रह्मपुराण के 92वें अध्याय में ब्राह्मणपुत्र सनाज्जात के अपनी माता 'मही' के साथ अनुचित कामसन्बन्ध

की कथा का मार्मिक चित्रण किया गया है। इस अध्याय का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन करने पर कथा के पात्रों– 'धृतव्रत' ब्राह्मण, 'सनाज्जात' पुत्र तथा ब्राह्मणपत्नी 'मही' की विशेषताएँ सूर्य, चन्द्र और पृथिवी की दिन, रात्रि तथा पर्वों पर दृष्टिगत होने वाली प्राकृतिक स्थिति का सङ्केत करती हुई बुद्धि को तत्त्वान्वेषण के लिए प्रेरित करती हैं।

अनुचित कामसेवन का एक और प्रसङ्ग दृष्टि को आवर्जित करता है। त्रेता और द्वापर के सन्धिकाल में विश्वेदेवों के साथ दिव्य मानव पितर सुमेरु पर बैठे हुए थे। काम के आवेग से उद्वेलित होकर चन्द्रमा की कान्तिमती (कोका/ऊर्जा अपर नाम) नाम की कन्या ने पिता के होते हुए धर्म का उल्लङ्घन कर स्वतन्त्रतापूर्वक पितरों से प्रणय–याचना की। उसके स्वरूप पर मुग्ध हो पितर भी उसका मुखमण्डल देखते रह गये। इस घटना से कुपित हो चन्द्रमा ने शाप दे दिया जिससे योगभ्रष्ट होकर वे पितर हिमालय की तराई में जा गिरे। वहीं पर कोका (कान्तिमती) भी नदी के रूप में गिरी और पर्वत–शिखरों को प्लावित करती हुई बहने लगी। कालान्तर में वराहरूपधारी श्रीभगवान् ने इनका उद्धार किया।[186]

चतुःपुरुषार्थों के अन्तर्गत काम के महत्त्वपूर्ण स्थान तथा इसकी शुचिता को बनाये रखने के लिए ब्रह्मपुराण में कथाव्याज से विधि–निषेध का अनुशासन किया गया है। इसी क्रम में परस्त्रीगमन,[187] गुरुभार्यागमन,[188] मनुष्येतर योनि में मैथुन,[189] अमावस्या–षष्ठी–अष्टमी–चतुर्दशी में स्त्रीगमन, रजस्वला स्त्री से सम्भोग, श्राद्ध करने के पश्चात् स्त्रीगमन,[190] सन्ध्याकाल अथवा दिन में सम्भोग का निषेध किया गया है।[191] संन्यास लेकर गृहस्थ–कर्म में संलग्न होने वाले तथा कामुक ब्रह्मचारी के पापग्रस्त होने का उल्लेख प्राप्त होता है।[192] द्वापर का अन्त और कलियुग का आगमन होने पर इस पुराण में अधर्मपूर्ण घटनाओं तथा मनोवृत्तियों के घटित होने का विवरण दिया गया है जिनमें अधम पुरुषों के मित्रभार्यागामी होने के दुष्कृत का भी उल्लेख है।[193]

मोक्ष

पुरुषार्थचतुष्टय में जीवन का परम अर्थ धर्म तथा चरम अर्थ मोक्ष है। ब्रह्मपुराण में 'मोक्ष' विषय का विस्तार के साथ तथा पुनः–पुनः वर्णन इस लक्ष्य की गुरुता और महत्ता को प्रकाशित करता है। इस पुराण में मोक्षप्राप्ति के तीन प्रमुख मार्गों की ओर ध्यान आकृष्ट होता है–1. भक्तिमार्ग (भक्तियोग), 2. ज्ञानमार्ग (सांख्यदृष्टि) तथा 3. योगमार्ग (अध्यात्मयोग)।

(1) भक्तिमार्ग–फल की प्राप्ति में कर्म प्रथम कारण माना जाता है। कर्म द्विविध कहा गया है–**क्रियमाण** और कृत। कर्त्तव्य क्रियमाण के साधन के रूप में निर्दिष्ट है। कर्त्तव्य की भावना कर्म तथा उसकी सिद्धि में कारण होती है। मनुष्य जिस भावना से कर्म करता है उस भावना के अनुरूप उसे फल प्राप्त होता है।[194] धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का कारण भी कर्म है। भावनायुक्त कर्म मोक्ष प्रदान करता है तथा बन्धन का कारण भी होता है।[195] मन से की गयी भावना ही इष्ट भक्ति और श्रद्धा के रूप में प्रकीर्तित है, यथा–

मनसा भावना भक्तिरिष्टा श्रद्धा च कीर्त्यते।[196]

इस पुराण में तीर्थस्थलों और संगमों पर स्नान , दान, भगवत्पूजा की विधियों के साथ परमेश्वर नारायण की आराधना, शरणागतभाव इत्यादि रूपों में मोक्ष की सिद्धि में भक्तिमार्ग की उत्कृष्टता प्रतिपादित की गयी है। इस पुराण के आरम्भ में ही पुरुषोत्तम परमात्मा की स्तुति के साथ मोक्ष की सिद्धि में उनकी भक्ति की कारणता प्रकाशित की गयी है।[197]

88वें अध्याय में राजा जनक द्वारा पुरोहित याज्ञवल्क्य के समक्ष मुक्ति की जिज्ञासा का वर्णन है। जनक के शब्दों में–"सुख–सामग्रियों के कारण भुक्ति उत्तम मानी जाती है किन्तु इसका अन्त आनन्द से रहित है। मुक्ति

निरत्यय है और भुक्ति से श्रेष्ठ है। किन्तु भोग के अनन्तर मुक्ति कैसे प्राप्त की जा सकती है?[198] याज्ञवल्क्य के कहने पर इस जिज्ञासा के साथ जलदेवता वरुण के पास पहुँचे जनक को वरुणदेव इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कर्ममार्ग के आश्रयण का उपदेश देते हैं।[199] वरुण के वचनों से प्रेरित हो राजा जनक गौतमी गंगा के तट पर स्थित होकर यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं और फल के रूप में मुक्तिलाभ करते हैं।[200] दुःखबहुल निःसार संसारसागर विषयरूपी जलराशि से परिपूर्ण है जो रागरूपी ग्राहों के कारण भयानक, इन्द्रियरूपी आवर्तों और मोहरूपी पङ्क के कारण दुर्गम तथा लोभ रूपी गहराई के कारण दुस्तर है।[201] गौतमी के तट पर सत्रयाग कर रहे वसिष्ठ आदि सात मुनियों के अनुष्ठान में विघ्न डालने वाले राक्षसों के संहार के लिए ब्रह्मा द्वारा स्त्रीरूप में माया के सृजन का उल्लेख मिलता है। कृष्ण और ईषद् रक्तवर्ण की यह मुक्तकेशी नाम की अजा माया आज भी विद्यमान है जो त्रिभुवन को मोह में डाल देती है।[202] परमात्मा की यह माया देवताओं के लिए भी दुर्ज्ञेय तथा इन्द्रजाल के सदृश है जिससे संसार मोहपाश में आबद्ध हो जाता है।[203] आसुरी वृत्ति के लोग इससे आहतबुद्धि होकर अधम गति को प्राप्त करते हैं।[204] यह अजितेन्द्रियों के लिए दुर्जेय है।[205] परम तेजस्वी कण्डु ऋषि भी इन्द्र के द्वारा भेजी गयी प्रम्लोचा नाम की अप्सरा के रूप से आकर्षित होकर अध्यात्म-पथ से विचलित हो जाते हैं। अपने इस असंयम का बोध होने पर वे दक्षिण समुद्र के तट पर स्थित पुरुषोत्तम क्षेत्र में जाकर माधव की स्तुति करने लगते हैं और पुरुषोत्तम को अपनी अनन्य भक्ति से प्रसादित कर विगतकाम और स्वस्थचित्त होकर देवदुर्लभ मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[206]

भगवान् विष्णु की इस दुर्विभाव्या माया के विषय में एक बार नारद ने अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। परमात्मा की प्रेरणा से उन्होंने काशीनरेश की पुत्री सुशीला के रूप में जन्म लिया। विदर्भराज के पुत्र सुधर्मा से विवाह के पश्चात् उसने पुत्र-पौत्रों सहित गृहस्थ-जीवन का उपभोग किया। काशीनरेश और सुधर्मा के बीच युद्ध छिड़ जाने पर इन दोनों के साथ ही दोनों कुलों के पुत्र-पौत्रादि मृत्यु को प्राप्त हो गये। विष्णु की माया से उपहित सुशीला (नारद) "हा पुत्र! हा पुत्र!" इस प्रकार विलाप करती हुई प्रज्वलित चिता में प्रविष्ट हो गयी। तदनन्तर प्रकट होकर केशव ने उसे प्रबोधित किया।[207]

49वें अध्याय में राजा इन्द्रद्युम्न द्वारा भगवान् जगन्नाथ की स्तुति का प्रसङ्ग मिलता है। भगवान् का स्वरूप भावाभावविवर्जित है। वे निर्गुण, निर्लिप्त, कूटस्थ, अविचल, ध्रुव, शाश्वत तथा सभी उपाधियों से निर्मुक्त हैं।[208] हलायुध, संकर्षण, चतुर्मुख, प्रपितामह, कृष्ण इत्यादि नामों से उन्हीं का स्तवन किया जाता है। बलदेव आदि उन्हीं जगन्नाथ के रूप हैं तथा गरुड़, दिक्पाल इत्यादि उन्हीं के अवयव हैं। जिस प्रकार जलयन्त्र में रज्जू से बँधा घड़ा ऊपर-नीचे तथा मध्य में घूमता रहता है उसी प्रकार परमात्मा की भक्ति से रहित मनुष्य कर्मरूपी रस्सी में बँधकर कभी स्वर्ग, कभी नरक, कभी मनुष्य तो कभी तिर्यग् योनि में भटकता रहता है।[209] शोक और तृष्णा से अभिभूत, व्याकुलचित्त हो जगन्नाथ की शरण में आये इन्द्रद्युम्न द्वारा प्रगीत इस स्तोत्र (अध्याय 49) को मुक्तिदायक कहा गया है।[210]

पुरुषोत्तम क्षेत्र को इस पुराण में अत्यन्त पुण्यप्रद तथा मोक्षदायक रूप में उद्घोषित किया गया है।[211] इस क्षेत्र में कृष्ण, बलराम और सुभद्रा का दर्शन धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का फल देने वाला है।[212] भगवान् कृष्ण का दर्शन होने से मनुष्य के लिए दुर्लभ मोक्ष की प्राप्ति सुलभ हो जाती है।[213] पुरुषोत्तम क्षेत्र में देहत्याग करने वाले मनुष्य को भगवान् श्रीहरि की सालोक्य मुक्ति प्राप्त हो जाती है। ब्रह्मपुराण में अनेक स्थानों पर मोक्ष की कामना से इस क्षेत्र में निवास करने तथा शरीर त्याग करने को फलप्रद बताया गया है।[214]

वासुदेव की उपासना में निरत विद्वान् के लिए भुक्ति और मुक्ति-दोनों प्रकार के फल की सिद्धि बतायी गयी

है।[215] विरजक्षेत्र में शरीरत्याग करने वाले के लिए मोक्ष की अवाप्ति का उल्लेख है।[216] दक्षिण समुद्र के समीप स्थित सम्पूर्ण ओण्ड्र देश स्वर्गमोक्षदायक रूप में वर्णित है।[217] उस देश में विद्यमान कोणादित्य-प्रदेश तथा सहस्रांशु सूर्यदेव भोग और मोक्षरूप द्विविध फल प्रदान करने वाले हैं।[218] भगवान् विष्णु की भक्ति उपासकों को उनके लोक में उत्तम स्थान प्रदान करती है।[219] नियमानुसार एकादशी को निराहार रहते हुए पञ्चतीर्थी को सम्पन्न कर तथा ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा को पुरुषोत्तम का दर्शन कर मनुष्य अच्युत भगवान् श्रीहरि के लोक में निवास करता है तथा उसके अनन्तर उस उत्तम लोक को प्राप्त करता है जहाँ से पुनः जन्म नहीं लेता।[220] वैष्णव योग के आलम्बन से मनुष्य के लिए मुक्ति की सम्भावना प्रबल हो जाती है।[221]

ब्रह्मपुराण में भुक्तिमुक्तिप्रद रूप में अनेक तीर्थों का माहात्म्य-वर्णन प्राप्त होता है। इनमें यायात कालञ्जर तीर्थ (146/44-45), भिल्ल तीर्थ (169/49), समुद्रतीर्थ (172/20), आत्मतीर्थ (117/1) इत्यादि उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार अप्सरो-युगसंगमतीर्थ (147/23), कृष्णा-भागीरथी-तुंगभद्रा नदीसंगम तथा गौतमी गंगा में स्नान को मोक्षदायक बताया गया है (77/5-7; 175/85)। गौतमी-माहात्म्य का श्रवण, पठन तथा स्मरण पाप का नाश कर भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है।[222] गोदावरी अशेषपापहन्त्री मोक्षदायिनी दिव्य नदी के रूप में वर्णित है।[223] आपस्तम्बतीर्थ अनादि अविद्यारूपी अन्धकार को समूल नष्ट कर देने में समर्थ है।[224] यमतीर्थ का वर्णन भी मोक्षप्रद रूप में हुआ है।[225] इसमें स्नान, दान, जप और स्तुति करने से दुष्कर कर्म करने वाले पितर भी मोक्ष के अधिकारी होते हैं।[226] चक्रतीर्थ में स्नान करने से मुक्तिप्राप्ति की सम्भावना व्यक्त की गयी है।[227] सौर्यतीर्थ में स्नान कर सूर्यविम्ब[228] का दर्शन करने से मनुष्य आवागमन के बन्धन में नहीं पड़ता। पृथिवी पर भारतवर्ष उस कर्मभूमि के रूप में उदाहृत है जो शुभ-अशुभ फलदायिनी तथा स्वर्ग-नरक रूप भी है। इस भूमि पर श्रद्धाभक्तिपूर्वक कर्म का सम्पादन कर विगतमत्सर, वीतराग, संयतेन्द्रिय पुरुषों ने परा सिद्धि को प्राप्त किया है।[229] स्वर्ग और मोक्षप्रद यह भारतभूमि देवताओं के लिए भी काम्य बतायी गयी है।[230]

(2) योगमार्ग–सांख्य और योग–मोक्ष प्राप्ति की इन दोनों विधियों में साङ्ख्यविज्ञ साङ्ख्य की प्रशंसा करते हैं तथा योगवेत्ता योगमार्ग की। योगमार्ग के अनुयायी यह पक्ष प्रस्तुत करते हैं कि ईश्वर को नहीं मानने वाला कैसे मुक्त हो सकता है। साङ्ख्यमतावलम्बी वेद को कारण बताकर अपने मार्ग को श्रेष्ठ बताते हैं।[231] वस्तुतः साङ्ख्य और योग में तत्त्वतः भेद नहीं है। साङ्ख्य में कुल 25 तत्त्वों तथा योग में ईश्वर के साथ कुल 26 तत्त्वों की स्थिति बनती है। इसके अतिरिक्त लक्ष्य और दिशा की दृष्टि से दोनों में साम्य है।

ब्रह्मपुराण में योग की दृष्टि से बुध्यमान और बुद्धत्व को परमतत्त्व के रूप में निर्दिष्ट किया गया है। अजन्मा ब्रह्म के हृदय में क्रीड़ा की इच्छा से विकार उत्पन्न हो जाता है। उस समय वह स्वयं को बहुत प्रकार से विभक्त कर देता है। अपने को नाना रूपों में विभक्त समझने लगता है। वह अप्रबुद्ध, अव्यक्त गुणसमूह तथा गुणों के उत्पादक तत्त्वों की सृष्टि करने लगता है।[232] यद्यपि वह बुद्धिपूर्वक सृष्टि, भोग और आक्षेप करता है किन्तु अनेक रूपों में विभक्त अपने स्वरूप को नहीं जान पाता। अव्यक्त ज्ञान के कारण पण्डित लोग उसे बुध्यमान कहते हैं।[233] जब वह विशुद्ध निर्मल परा बुद्धि को तथा छब्बीसवें आत्मतत्त्व को जान लेता है तब बुद्ध होकर परिव्रजन करता है। तदनन्तर सृष्टि और प्रलय करने वाले अव्यक्त को त्याग देता है तथा केवल ब्रह्म के साथ समागम कर विमुक्त आत्मा को प्राप्त कर लेता है।[234] सांख्य की दृष्टि में जो नानात्व दीखता है, योग की दृष्टि से ज्ञान हो जाने पर चेतन समेत पच्चीस तत्त्वों में एकता हो जाती है। पञ्चविंशति तत्त्वावलिप्त जीव का ज्ञान-विज्ञान ही मोक्ष है। प्रकृति का वशवर्ती जीव छब्बीसवें अव्यक्त (ब्रह्म) के साक्षात्कार से मोक्ष प्राप्त कर लेता है।[235]

योगमार्ग का निर्देश करते हुए ब्रह्मपुराण संकेत करता है कि धीर पुरुष क्षमा से क्रोध को नष्ट करे, सङ्कल्पयोग से काम को, सत्त्वगुण के संसेवन से निद्रा का उच्छेद करे, अप्रमाद से भय को जीते तथा शरीर और बुद्धि की रक्षा करे।[236] काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्नरूप पाँच योगदोष हैं, इनका उच्छेद करे।[237] योगाभ्यास से दोषों का परित्याग कर आत्मसंस्थित होना चाहिए। ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, ऋजुता, क्षमा, शौच, आचार और इन्द्रियसंयम से तेज बढ़ता है तथा पाप नष्ट हो जाते हैं।[238] अमूढ़ता, असङ्गित्व, कामक्रोध का त्याग, अदैन्य, अनुद्वेग, वाणी–शरीर–मन का संयम–यह मोक्ष का निर्मल, पवित्र मार्ग बताया गया है।[239] नीच वर्ण के व्यक्ति अथवा धर्मपरायण स्त्री के लिए भी योगमार्ग से परम गति की प्राप्ति सम्भव है।[240] मन, बुद्धि और इन्द्रियों की एकाग्रता का नाम ही एकत्व है।[241] मन और इन्द्रियों का यह संयोग (परमात्मा में एकाग्रता) योग संज्ञा से विश्लेषित है–

मनसश्चेन्द्रियाणां च संयोगो योग उच्यते।[242]

योग के आठ चरण परिकल्पित हैं–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। *ब्रह्मपुराण* में इन सभी स्थितियों को विशद विवेचन द्वारा द्योतित किया गया है। योगाभ्यास करते समय मनुष्य को अत्यधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है। जैसे तैलपात्र लेकर सीढ़ी पर चढ़ते समय मन को निश्चल करना पड़ता है, उसी प्रकार स्थिर होकर योग का अभ्यास करना चाहिए।[243]

आहार–योगदोष–देशकाल को जानकर, द्वन्द्व तथा परिग्रह से रहित होकर योगाभ्यास करना चाहिए। मन के विकल रहने पर, श्रान्त तथा भूखा रहने पर एवं अत्यधिक शीत, उष्णता, अग्नि या वायु की तीव्रता वाले स्थान पर योगक्रिया का निषेध किया गया है क्योंकि इन स्थितियों में शरीर को क्षति पहुँचने की सम्भावना रहती है।[244] योगी को अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए तथा गुप्त, शान्त, पवित्र, रमणीय स्थान, आश्रम या देवालय में योग–क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए।[245] योगी को क्रोधरहित, निःस्पृह, सत्यनिष्ठ होकर अभ्यास आरम्भ करना चाहिए। नाभिप्रदेश पर दोनों हाथों को रखकर शान्तभाव से पद्मासन में स्थित होकर तथा नासिकाग्र पर दृष्टि को स्थिर कर वाक्संयमपूर्वक प्राणायाम करना चाहिए। राजसवृत्ति से तामस वृत्ति को और सात्त्विक वृत्ति से राजस वृत्ति को आच्छादित करके नेत्रों को बन्द कर हृदयकमल के कोटर में विद्यमान सर्वव्यापी, मुक्तिप्रद, निरञ्जन पुरुषोत्तम का ध्यान करना चाहिए।[246] इस प्रक्रिया में साधक द्वारा अन्तःकरण सहित इन्द्रियों और पञ्चभूतों को क्षेत्रज्ञ में (शरीरस्थ जीवात्मा में) और क्षेत्रज्ञ को परमात्मा में नियोजित करने का निर्देश दिया गया है।[247] जब योगी का चित्त निर्विषय होकर समाधि की अवस्था में ब्रह्म में लीन हो जाता है तब वह परम पद प्राप्त करता है।[248] नाभि, मस्तक, कुक्षि, हृदय, पार्श्वभाग, नेत्र, श्रोत्र तथा नासिका–इन स्थानों में महाव्रतधारी योगी अच्छी तरह आत्म–मनःसंयोग कर शुभाशुभ कर्म को दग्ध कर उत्तम योग की स्थिति में आकर मुक्त हो जाता है।[249] जब योगी समस्त भूतों में अपने को और अपने में समस्त भूतों को देखने लगता है तब वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[250] जैसे मत्स्य स्थूल जाल को छेद कर पुनः जल में चला जाता है उसी प्रकार योगी निष्पाप होकर शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है।[251] जिस प्रकार तीक्ष्ण क्षुरधार पर ठहरना दुःसाध्य है, उसी प्रकार योग की धारणा भी अवश्यात्माओं के लिए कठिन है।[252] इसलिए योगमार्ग पर आरूढ़ साधक को अपने अभ्यास में दृढ़ता से निरत रहने तथा मोहवश कभी भी विचलित नहीं होने के लिए सावधान किया गया है।[253] जब मन सहित पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा में स्थित हो जाती हैं तब ब्रह्म का प्रकाश होता है और आकाश में दीप्तिमान् सूर्य की तरह अथवा विद्युत्–अग्नि की तरह आत्मा में आत्मा का दर्शन

होता है।[254] इस प्रकार चित्त के प्रसाद से शुभ–अशुभ का परित्याग कर योगी आनन्दस्वरूप परमात्मा में स्थित होकर परमानन्दरूप मोक्ष का लाभ करता है।

(3) साङ्ख्यमार्ग–साङ्ख्यमार्ग की दृष्टि से ब्रह्मपुराण में एक स्थान पर मोक्ष के विषय में दो प्रकार के मतों का उल्लेख करते हुए उनके विषय में बुद्धिपूर्वक निश्चय करने की बात कही गयी है। कुछ के मत में तत्त्वज्ञान से जब गुणों का नाश कर दिया जाता है तब वे फिर उत्पन्न नहीं होते, उनका सर्वथा निरसन हो जाता है। इस प्रकार से भ्रम या अविद्या का निवारण होना ही मुक्ति है। दूसरे विश्लेषकों के मत में त्रिविध ताप (दुःख) की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।[255]

परमेश्वर की इच्छा से सृष्टिकार्य प्रारम्भ होने पर प्रकृति, महत्, अहङ्कार, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत–ये 24 प्रकार के तत्त्व उत्पन्न होते हैं।[256] उत्पन्न होने वाला यह जगत् विनष्ट होता है, इसलिए इसकी 'क्षर' संज्ञा है। अव्यक्त से निःसृत होने के कारण इसने 'व्यक्त' संज्ञा धारण की है–

ततस्तत्क्षरमित्युक्तं क्षरतीदं यथा जगत्।
जगन्मोहात्मकं चाहुरव्यक्ताद्व्यक्तसंज्ञकम्।।[257]

क्षेत्र अव्यक्त का नाम है और क्षेत्रज्ञ पच्चीसवाँ तत्त्व है।[258] मनीषियों ने क्षेत्रों में अधिष्ठान करने के कारण महान् आत्मा को अधिष्ठाता और क्षेत्रों को जानने के कारण उसे क्षेत्रज्ञ कहा है।[259] वह आदि–अन्त से रहित, चेतन, नित्य, सर्वरूप, निर्गुण और सगुण भी है।[260] यह शिव, कल्याण तथा अनामयरूप तत्त्व ही अक्षर तत्त्व है।[261] यही ज्ञेय है जिसे जानकर विद्वान् मोक्ष को प्राप्त करते हैं।[262] साङ्ख्य की दृष्टि के अनुसार एकत्व को 'अक्षर' तथा नानात्व को 'क्षर' कहा गया है।[263] जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है, वहीं उसका लय होता है।[264] सागर की लहरों की तरह गुण–गुणों के अनुलोम भाव से उत्पन्न होते हैं और प्रतिलोम भाव से लय को प्राप्त होते हैं। प्रकृति का यही सर्गप्रलय है। प्रलय में इसका एकत्व और सृष्टि में बहुत्व जाना जाता है।[265]

ब्रह्मपुराण में समस्त प्राणियों का प्रलय तीन प्रकार का निर्दिष्ट है–[266]

1. नैमित्तिक–कल्प के अन्त में होने वाला ब्राह्म प्रलय,
2. प्राकृतिक–दो परार्ध सङ्ख्या बीत जाने पर होने वाला प्रलय,
3. आत्यन्तिक–त्रिविध ताप के ज्ञान से होने वाला आध्यात्मिक लय अर्थात् मोक्ष।

आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार का होता है जिन दोनों के अनेक प्रकार जीवन में अनुभवगम्य होते हैं। पशु–पक्षी, सर्प, राक्षस–पिशाच आदि से होने वाला ताप आधिभौतिक तथा ग्रीष्म, शीत, वृष्टि, विद्युत् इत्यादि के कारण होने वाला दुःख आधिदैविक है। आध्यात्मिक दुःख के अन्तर्गत जन्म, जरा, मृत्यु तथा स्वर्ग–नरक आदि लोकों में गमन जीव को नाना प्रकार से दुःसह्य दुःख प्रदान करते हैं।[267] संसाररूपी सूर्य के ताप से सन्तप्त मनुष्यों के लिए मोक्षरूपी वृक्षच्छाया को छोड़कर अन्यत्र सुख कहाँ? इसलिए ऋषि–महर्षियों ने त्रिविध ताप के निवारण के लिए भगवत्प्राप्तिरूपी औषध को उपाय बताया है।[268] भगवत्प्राप्ति के दो माध्यम हैं–ज्ञान तथा कर्म। अज्ञान का स्वरूप अन्धकार के समान तथा ज्ञान का दीपक भी भाँति उपदिष्ट है।[269] इस पुराण में भगवान् मनु के वचनों को उद्धृत करते हुए ज्ञान के दो विषय बताये गए हैं–शब्दब्रह्म और परब्रह्म।[270] इसी प्रकार अथर्ववेद को उद्धृत करते हुए परा विद्या तथा शब्द ब्रह्म की प्राप्ति के लिए अपरा विद्या ऋग्वेदादि के अधिगम का अनुशासन किया गया है।[271] जो अविद्या और विद्या दोनों को जानता है, वही भगवान् है।[272] यजुर्वेद में अविद्या को मृत्यु के तरण का साधन तथा विद्या को अमृतत्व का हेतु बताया गया है। उल्लेख्य है कि विद्या अर्थात् ज्ञानपूर्वक

इस अविद्याजनित निःसार संसार में कर्म-सम्पादन करना ही क्रमशः विद्या और अविद्या के रूप में वेद-धर्मशास्त्र-पुराणादि में प्रदत्त उपदेश का लक्ष्यार्थ है।[273]

परमात्मा अपनी शक्ति के लेशमात्र से भूतों की सृष्टि करते हैं और स्वेच्छा से देहधारण कर सम्पूर्ण जगत् का कल्याण करते हैं-

समस्तकल्याणगुणात्मको हि स्वशक्तिलेशादृतभूतसर्गः।
इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः; संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ।।[274]

वह ईश्वर व्यष्टि तथा समष्टि, व्यक्त तथा अव्यक्त-उभयरूप है। वह सर्वेश्वर, सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान् है। जिसके द्वारा उस निर्मल, शुद्ध, एकरूप परमात्मा का दर्शन होता है उसी का नाम ज्ञान है, तदतिरिक्त सब कुछ अज्ञान है।[275] क्षेत्रज्ञ जब गुणवती प्रकृति के गुणों में विलीन हो जाता है तब 'क्षर' हो जाता है। क्षेत्रज्ञान का क्षय होने पर उसे स्वभावतः निर्गुणत्व की प्राप्ति हो जाती है। जब वह प्रकृति को और अपने निर्गुणत्व को जान लेता है, मैं पुरुष अन्य हूँ और यह प्रकृति अन्य है इस प्रकार समझ लेता है, तब प्रकृति (माया) के परित्याग से शुद्ध होकर शान्ति का अनुभव करता है तथा पुनः संसर्ग में नहीं आता।[276] परस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर उसे मोहमयी प्रकृति की निःसारता समझ में आ जाती है और वह विकारयुक्त मोहपरिधि का सर्वथा परित्याग कर मायातीत प्रबुद्ध होकर निरामय, निर्विकार रूप का आश्रय ले लेता है।[277]

ब्रह्मपुराण के शब्दों में क्षर और अक्षर क्रमशः कर्ममय और ज्ञानमय हैं।[278] कर्म से जीव बद्ध होता है और ज्ञान से मुक्त। कर्म में सोलह विकारों से युक्त जीव शरीरत्याग के बाद फिर जन्म लेता है और ज्ञान से अक्षरात्मक, नित्य, अव्यक्त बन जाता है।[279] कर्मों के फल उत्पत्ति-मरणरूप सुखदुःखात्मक हैं। ज्ञान से जीव उस स्थिति को प्राप्त कर लेता है जिसमें मृत्यु नहीं होती, उत्पत्ति, हानि अथवा वृद्धि नहीं होती, जिसमें अव्यक्त, अचल, ध्रुव ब्रह्म की प्राप्ति होती है और मानसिक कर्म तथा द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं।[280] सत्त्व, रजस् और तमस्-तीनों स्वयोनिज गुण सभी भूतों में समान हैं। जैसे मकड़ी सूत्र बनाती है वैसे ही प्रकृति स्वतः गुणों की उद्‌भावना करती है। जीवात्मा उसमें उलझ जाता है जबकि ईश्वर उदासीन भाव से त्रिगुणात्मक व्यापार को देखता रहता है।[281] जलचर पक्षी जल में विचरण करता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मुक्तात्मा योगी गुणदोषों से लिप्त नहीं होता।[282] जैसे कछुआ अपने अंगों को फैलाकर समेट लेता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों का नियमन करता है।[283] पत्थर से सुवर्ण, उदुम्बर से मशक और मूँज से इषिका (सींक) के संयोग की तरह स्वभावतः पृथक् होते हुए भी प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है।[284] क्षेत्रज्ञ आत्मा सत्त्व, रजस्, तमस् के गुणों को, मन और बुद्धि के गुणों को तथा पृथिवी-जल-वायु-आकाश-अग्नि के गुणों को व्याप्त करके शुभ-अशुभ कर्म करता है और किसी महात्मा के शिष्य की तरह इन्द्रियाँ उसका अनुसरण करती हैं।[285] किन्तु आत्मा के वियुक्त होते ही ये इन्द्रियाँ समुद्र में तरङ्गों की भाँति विनष्ट हो जाती हैं।[286] इनके अपने-अपने स्थान में इनका अतिक्रमण कर आत्मा सूक्ष्म गति से चल देता है।[287] मन के द्वारा इन्द्रियों का सम्यक् प्रकार से नियमन हो जाने पर आत्मा उसी प्रकार प्रकाशित होता है जिस प्रकार दीप द्वारा रूप प्रकाशित होता है।[288] ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा में सभी भूतों के आत्मा को धूम्ररहित अग्नि की तरह देखता है।[289] आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है। वह सुख-दुःख से परे, भूत-वर्तमान-भविष्य त्रिकालरूप है। उसे जान लेने पर स्त्री अथवा पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता।[290]

आकाश से गिरा हुआ जल जैसे भूमिरस के संयोग से भिन्न-भिन्न स्वाद को ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार गुणों के रस-संयोग से वह भिन्न-भिन्न रस को धारण करता है।[291] एक ही वायु जैसे शरीर में पाँच प्रकार से रहता

है उसी प्रकार उसका एकत्व और पृथक्त्व है। जैसे अग्नि स्थानभेद से भिन्न-भिन्न संज्ञा को प्राप्त करता है वैसे ही वह ब्रह्मा आदि संज्ञाओं से समन्वित होता है। जैसे एक दीप हजारों दीपों को उत्पन्न कर देता है वैसे ही एक होकर भी वह हजारों रूपों को उत्पन्न कर देता है।[292] जब तक वह आत्मा को जानता है तब तक केवल रूप अर्थात् एकरूप रहता है, एकत्व का नाश होने पर बहुत्व अर्थात् बहुरूप हो जाता है। स्थावर-जङ्गम नित्य नहीं है किन्तु सब में स्थित वह आत्मा अक्षय, अप्रमेय है। उसी से अव्यक्तरूप त्रिगुण उत्पन्न होता है, अव्यक्त से व्यक्त भाव में जो स्थित है, वही प्रकृति कहलाता है।[293]

पुरुष स्वतः मुक्त है, किन्तु प्रकृति के सम्पर्क से वह बुद्धि-अहंकारादि के संसर्ग में आता है और प्रकृति के गुण-धर्मादि को, तद्गत सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानकर सुखी और दुःखी होने लगता है। दोनों का अभेदसम्बन्धी अविवेक नष्ट होने पर प्रकृति के व्यापार से विरक्त होकर वह अपनी स्थिति को प्राप्त करता है। दुस्तर जन्म का सन्तरण कर सिद्ध पुरुष निर्मल आकाश में प्रवेश करते हैं। सूर्य उन्हें अपनी किरणों से ऊपर उठाते हैं, प्रवह नामक वायु पद्मतन्तु की भाँति आविष्ट होकर भोग्य पदार्थों को उन तक पहुँचाता है। सात मरुतों में श्रेष्ठ मरुत सिद्धपुरुषों को आकाश की चरम सीमा तक पहुँचाता है, आकाश उन्हें रजोगुण की सीमा में प्रवेश दिलाता है तथा रजोगुण सत्त्वगुण की अन्तिम सीमा पर ला देता है, शुद्धात्मा सत्त्वगुण उन्हें प्रभु नारायण के पास ले आता है तथा शुद्धात्मा प्रभु उन्हें परमात्मा के पास पहुँचा देते हैं।[294] परमात्मा को प्राप्त कर निर्मल यती उनमें तन्मय हो जाते हैं और अमृतत्व की सिद्धि कर पुनरावर्तित नहीं होते। सत्य तथा आर्जव से समन्वित सभी भूतों पर दया करने वाले महात्माओं की यह गति होती है।[295]

मोक्ष की प्राप्ति में इस साङ्ख्यमार्ग को धर्म तथा सत्य का सार, अमृतरूप कहा गया है जिसे सहस्र वर्षों तक वेदों का मन्थन करने के बाद निकाला गया है। जिस प्रकार दधि से नवनीत और काष्ठ से अग्नि निःसृत होती है उसी प्रकार विद्वानों का यह ज्ञान मोक्ष के साधन के रूप में निःसृत हुआ है।[296]

इस प्रकार ब्रह्मपुराण में मोक्षप्राप्ति के लिए भक्ति, योग तथा साङ्ख्य-त्रिविध साधन की प्रस्तावना की गयी है। नाना जलस्रोतों के परं गन्तव्य समुद्र की तरह मनुष्य की चरम गति मुक्ति की अवस्था है जिसकी सिद्धि हो जाने पर वह आत्मोद्धार कर कृतकृत्य हो जाता है। सत्त्वबुद्धि से सम्पादित धर्म, अर्थ और काम की परिणति मोक्षदायिनी होती है जिसकी अनुभूति मानव-विग्रह के आश्रय से ही गम्य है। त्रिवर्ग से जीवन में अभ्युदय प्राप्त करने के साथ परागति निःश्रेयस की सिद्धि की दृष्टि से ब्रह्मपुराण में पुरुषार्थचतुष्टय का विवेचन मानवमात्र के लिए परम कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता है।

संदर्भ

1. ब्रह्मपुराण 30/70-71
2. अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने।
   यतो हि कर्मभूरेषा यतोऽन्या भोगभूमयः।। ब्रह्मपुराण 19/23
3. अनुशासनपर्व 3/19
4. विष्णुधर्मसूत्र 71/84
5. मनुस्मृति 2/224
6. चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। ताभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात् तद्विद्यानां विद्यात्वम्। अर्थशास्त्र 1/2
7. .... अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति। *वही* 1/7
8. ब्रह्मपुराण 221/16

9. तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः......।। ईशोपनिषद् 1
10. अभयं सत्त्वसंसुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।

× × ×

भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। गीता 16/1, 3
11. गीता 16/5
12. वैशेषिक दर्शन 1/2
13. अमरकोष 1/6/3
14. अथर्ववेद 12/1/1
15. तैत्तिरीय आरण्यक 10/63/7
16. कर्णपर्व 69/58
17. मनुस्मृति 12/88-89
18. *वही*, 5/56
19. *वही*, 2/1
20. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 7/7
21. तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्। मनुस्मृति 2/5
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। गीता 3/35
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। गीता 18/46
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।। गीता 18/45 इत्यादि।
22. मनुस्मृति 2/6, 12
23. *वही*, 6/92
24. शान्तिपर्व 2/75
25. ऋग्वेद 9/73/1
26. यजुर्वेद 7/45
27. ब्रह्मपुराण 24/8; 24/19-23
28. ब्रह्मपुराण 1/49
29. *वही*, 4/39-41
30. *वही*, 4/48-49
31. *वही*, 4/52
32. *वही*, 4/86
33. *वही*, 4/90-97
34. *वही*, 4/115-121
35. *वही*, 13/160
36. *वही*, 13/165-167
37. *वही*, 13/171
38. *वही*, 13/171-174
39. *वही*, 13/174-175
40. *वही*, 13/179-185
41. *वही*, 13/187

42. ब्रह्मपुराण 13/162-164
43. *वही*, 13/189-192
44. *वही*, 13/197-198
45. *वही*, 46/28, 30
46. *वही*, 50/42-47
47. *वही*, 51/54, 56-58
48. *वही*, 58/1
49. *वही*, 56/67-73
50. *वही*, अध्याय 216
51. *वही*, 56/35-37
52. *वही*, 19/22
53. *वही*, 19/24-25
54. *वही*, 22/44
55. *वही*, 218/24
56. *वही*, 221/1-3
57. *वही*, 25/5-6
58. *वही*, 221/146
59. *वही*, 221/147-148
60. *वही*, अध्याय 219
61. *वही*, 221/138-144 इत्यादि
62. *वही*, 2/24; 8/25, 52; 73/23 इत्यादि
63. *वही*, 225/23-27
64. *वही*, 225/36-41
65. *वही*, 11/7
66. वामनपुराण 31/26
67. ब्रह्मपुराण 110/115-118
68. *वही*, 12/47-48
69. *वही*, 34/80-89
70. *वही*, 13/161-163
71. *वही*, 15/35
72. *वही*, 78/55-58
73. *वही*, अध्याय 218; 218/10
74. सत्यमेकं परो धर्मः सत्यमेकं परं तपः।
सत्यमेकं परं ज्ञानं सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।। स्कन्दपुराण 44/18
75. ब्रह्मपुराण 45/44-45
76. *वही*, 218/4-5
77. *वही*, 222/3-5; मनुस्मृति 1/88; याज्ञवल्क्य स्मृति 1/118
78. ब्रह्मपुराण 222/8-9; याज्ञवल्क्य स्मृति 1/119
79. ब्रह्मपुराण 222/7; मनुस्मृति 1/89; याज्ञवल्क्य स्मृति 1/118

80. ब्रह्मपुराण 222/11-12; मनु स्मृति 1/90; याज्ञवल्क्य स्मृति 1/119
81. ब्रह्मपुराण 222/14
82. *वही,* 222/19-20
83. *वही,* 222//22-28
84. *वही,* 222/29-32
85. *वही,* 222/37
86. *वही,* 222/39
87. *वही,* 222/40-44
88. *वही,* 222/56
89. *वही,* 222/46-56
90. *वही,* 217/7 तथा महा. अनुशासन पर्व 111/14-15
91. ब्रह्मपुराण 217/14
92. चाणक्यनीति सूत्र 90-91
93. *वही,* 2
94. कामसूत्र 2/9
95. चाणक्यनीतिसूत्र 502
96. अथर्ववेद 12/1 इत्यादि
97. ब्रह्मपुराण 221/16
98. *वही,* 222/29
99. *वही,* 221/17
100. गीता 9/22
101. दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। नीतिशतक 43
102. ......वित्तस्य पात्रे व्ययः। *वही,* 83
103. तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः।। *वही,* 44
104. चाणक्यनीति 11/18
105. दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात्।। ब्रह्मपुराण 19/21
106. सर्वेषामेव दानानामन्नं श्रेष्ठमुदाहृतम्।। *वही,* 218/10

दानविद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।।

तेष्वप्यन्नस्य दातारस्तेभ्यो धर्मः सनातनः।

× × × ×

अन्नस्य हि प्रदानेन नरो याति परां गतिम्।। *वही,* 218/24-26

107. ब्रह्मपुराण 218/10-12
108. मूलमेतत्तु धर्माणां प्रदानानाञ्च भो द्विजाः। ब्रह्मपुराण 218/32
109. *वही,* 218/13-16
110. *वही,* 218/17-22
111. *वही,* 218/23
112. *वही,* 29/14-17
113. न्यायलब्धं प्रदातव्यं द्विजातिभ्योऽन्नमुत्तमम्। ब्रह्मपुराण 218/13
114. यः प्रयच्छति विप्रेभ्यो न स दुर्गाणि सेवते।

न्यायेनावाप्तमन्नं तु नरो हर्षसमन्वितः।। *वही,* 218/22

115. ब्रह्मपुराण 218/25, 26, 28

116. *वही,* 218/17-19

117. तस्मात्पापागतैरर्थैर्नानुरज्येत पण्डितः। *वही,* 217/9

118. *वही,* 217/37-39

119. *वही,* 217/40-42

120. *वही,* 217/55-57; 62-65; 87-99

121. *वही,* 217/73-74

122. *वही,* 217/100-104

123. *वही,* 217/114-115

124. *वही,* 8/18-19

125. *वही,* 4/28-52

126. *वही,* 221/62-63

127. *वही,* 220/97-98

128. श्राद्धं कुर्वद्भिरत्राम्बुविक्षेपैः सम्प्रजायते।
तस्माच्छ्राद्धं नरो भक्त्या शाकेनापि यथाविधि।।
कुर्वीत कुर्वतः श्राद्धं कुले कश्चिन्न सीदति। *वही,* 220/99-100

129. *वही,* 220/100

130. *वही,* 220/101-102

131. *वही,* 220/109-110

132. *वही,* 220/111-112

133. *वही,* 220/117-122

134. ऋग्वेद 10/129/4 तुलना अथर्ववेद 19/52/1

135. अथर्ववेद 9/2/19

136. गीता 7/11

137. ब्रह्मपुराण 1/37-38

138. *वही,* 1/39-40

139. *वही,* 1/52

140. मनुस्मृति 2/2

141. *वही,* 2/4

142. अर्थशास्त्र 1/3/7

143. महाभारत स्वर्गारोहणपर्व 5/62

144. कठोपनिषद् 1/2/4

145. कठोपनिषद् 1/1/25; मुण्डकोपनिषद् 3/2/2; श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/13 इत्यादि

146. ब्रह्मपुराण 92/45

147. *वही,* 36/99

148. *वही,* 36/99-104

149. *वही,* 36/116-118

150. *वही,* 38/13

151. चाणक्यनीति 13/12

152. पौराणिक साहित्य में काम देवता के रूप में चित्रित हैं।

श्रीमद्भागवतपुराण 10/55/1, 12; 11/4/7; मत्स्यपुराण 154/209-239; ब्रह्मपुराण 38/1-7 इत्यादि

153. ब्रह्मपुराण 71/29-33

154. *वही*, 71/39-41

155. *वही*, 138/11

156. *वही*, 138/13

157. *वही*, 146/12

158. *वही*, 146/34

159. *वही*, 146/40

160. *वही*, 12/38

161. *वही*, 12/39-46

162. *वही*, 35/11

163. *वही*, 35/13-14

164. *वही*, 35/21

165. *वही*, 35/23-25

166. मत्स्यपुराण 31/2, 10

167. ब्रह्मपुराण 68/23-27

168. *वही*, 227/10

169. *वही*, 227/19

170. *वही*, 227/20-33

171. *वही*, 227/8-9

172. *वही*, 228/54

173. *वही*, 72/22

174. *वही*, 102/3-8

175. *वही*, 102/9

176. *वही*, 101/9

177. *वही*, 101/14-16

178. *वही*, 151/3

179. *वही*, 151/4-5

180. *वही*, 151/13-16

181. *वही*, 152/7-9

182. *वही*, 152/5

183. *वही*, 152/12-13

184. *वही*, 152/27

185. *वही*, 152/31

186. *वही*, अध्यय 219

187. *वही*, 221/61; 228/24

188. *वही*, 225/52

189. ब्रह्मपुराण 225/51
190. *वही*, 221/27; 228/28-29
191. *वही*, 221/71, 74
192. *वही*, 228/38
193. *वही*, 231/7
194. *वही*, 173/10-15
195. *वही*, 173/22-23
196. *वही*, 29/8
197. *वही*, 1/1-2
198. *वही*, 88/5-7
199. *वही*, 88/10-11, 13
200. *वही*, 88/22-23
201. *वही*, 26/19-20
202. *वही*, 137/1-7
203. *वही*, 229/88
204. *वही*, 229/15-16
205. *वही*, 229/18
206. *वही*, 178/188-190
207. *वही*, 229/55-56
208. *वही*, 49/17-18
209. *वही*, 49/42-48
210. *वही*, 49/62, 68
211. *वही*, 69/9; 178/192
212. *वही*, 58/1
213. *वही*, 57/51
214. *वही*, 69/2; 177/24
215. *वही*, 227/50
216. *वही*, 42/10
217. *वही*, 28/1
218. *वही*, 28/17-18
219. *वही*, 228/5
220. *वही*, 63/9
221. *वही*, 64/20; 66/23; 67/80; 176/62 इत्यादि
222. *वही*, 94/50
223. *वही*, 173/37
224. *वही*, 130/34
225. *वही*, 131/57
226. *वही*, 131/51
227. *वही*, 134/16

228. ब्रह्मपुराण 113/21
229. वही, 27/2-4, 7
230. वही, 27/9
231. वही, 239/2-4
232. वही, 245/1-2
233. वही, 245/3-5
234. वही, 245/11-14
235. वही, 245/25-26
236. वही, 238/44-45
237. वही, 238/52
238. वही, 238/53-54
239. वही, 238/56-57
240. वही, 236/68
241. वही, 236/37
242. वही, 235/28
243. वही, 239/32
244. वही, 235/5-7
245. वही, 235/12-13
246. वही, 235/15-20
247. वही, 235/21 तुलना कठोपनिषद् 1/3/13
248. ब्रह्मपुराण 235/23-24
249. वही, 239/39-41
250. वही, 236/22
251. वही, 239/12
252. वही, 239/54 तथा तुलना कठोपनिषद् 1/3/14
253. ब्रह्मपुराण 236/67
254. वही, 236/50-54
255. वही, 238/3
256. वही, 241/20-28; 243/67-70
257. वही, 241/35
258. वही, 243/79
259. वही, 243/77-78
260. वही, 241/39-40; 243/29
261. वही, 241/10
262. वही, 241/48
263. वही, 243/37, 80
264. वही, 243/71
265. वही, 243/72-75

266. ब्रह्मपुराण 232/1-2
267. *वही*, 234/7-9
268. *वही*, 234/55-57
269. *वही*, 234/57-59
270. *वही*, 234/61
271. *वही*, 234/62-63
272. *वही*, 234/67
273. शुक्ल यजुर्वेद 40/14
274. ब्रह्मपुराण 234/72
275. *वही*, 234/73-75
276. *वही*, 244/18-21
277. *वही*, 244/22-41
278. *वही*, 237/3
279. *वही*, 237/7-8
280. *वही*, 237/11-14
281. *वही*, 238/1-2
282. *वही*, 237/82-83
283. *वही*, 237/53 तुलना गीता 2/58
284. ब्रह्मपुराण 237/88-89
285. *वही*, 240/89-92
286. *वही*, 240/84
287. *वही*, 240/88
288. *वही*, 237/80
289. *वही*, 238/21
290. *वही*, 238/36-37
291. *वही*, 30/72
292. *वही*, 30/73-75
293. *वही*, 30/76-78
294. *वही*, 240/69-74
295. *वही*, 240/75-76
296. *वही*, 237/34-35

•